एक संत के जीवन यात्रा की लम्बी कहानी

मिट्टी का महात्मा

सुभाष दीपक

डॉ. सम्बोध गोस्वामी

एक संत के जीवन यात्रा की लम्बी कहानी

मिट्टी का महात्मा

सुभाष दीपक
डॉ. सम्बोध गोस्वामी

भूमिका

असाधारण वे ही नहीं कहलाते जो ऊंची अट्टालिकाओं या गहन् कन्दराओं में रहते हैं। असाधारण केवल वे भी नहीं होते, जिनके सिर पर ताज़ होता है और जिन्हें रोज़ अभिवादन करते लोगों के बीच गुज़रते रहना पड़ता है। सही अर्थों में असाधारण तो वे होते हैं, जो स्वयं अभिवादन का पर्याय बन जाते हैं। जिस पर भी वे नज़र डाल देते हैं, उसका जीवन निखर जाता है। जिस पथ से वे गुज़र जाते हैं राजपथ बन जाता है। जहां विश्राम के लिए रुकते हैं, स्मारक खड़े हो जाते हैं। लोग स्वतः ही श्रद्धा से उनके सामने नत्मस्तक हो जाते हैं। अनेक तो उनमें और ईश्वर में अन्तर भी नहीं कर पाते और अपना सर्वस्व लुटाने को सदैव तत्पर रहते हैं। उनके साथ एक कारवां सा चलता है, और रास्ते खुद ब खुद बनते जाते हैं। मंज़िलें तय होती जाती हैं, और आगे बढ़ने के लिए परस्पर होड़ मची रहती है।

एक दिन.......भोर की बेला में, ठण्डी और खुशनुमा हवा बह रही थी। सुनहरी किरणों से भीगे बगीचे में, धूप की चादर से लिपटे पौधे, अंगड़ाई लेकर जैसे जाग रहे थे। तितलियां थीं, जो इठलाती हुई एक फूल से दूसरे फूल तक, खुशबुओं के गीत गाते थकती नहीं थीं और रंग बिरंगे पत्ते ओस की बूंदों को पीने के लिए, मचल–मचल कर जैसे बयार के साथ–साथ उड़ जाना चाहते थे। निस्संदेह यह किसी स्वप्न का चित्र नहीं था, और ना थी कोरी कल्पना की उड़ान ही। वास्तव में राधा बाबा के मन्दिर में आरती का समय था। ढोल और नगाड़े बज रहे थे। लोग बाबा की प्रतिमा के समक्ष आंखें बंद किये हाथ बांधे खड़े थे। मेरी आंखें भी बंद थीं कि अचानक, जैसे कोई बंद पलकों को हौले से सहलाये, ऐसा महसूस हुआ। मैंने आंखें खोल दीं। राधा बाबा आशीर्वाद देने की मुद्रा में, साक्षात् मेरे सामने खड़े थे। उनके दूसरे हाथ में एक पुस्तक थी। पुस्तक का नाम था ''मिट्टी का महात्मा'' और लेखक के रूप में था उस पर मेरा नाम। मैं एकटक उनको देखता रहा और वे मुझे। उन्होंने मुझसे कहा कुछ भी नहीं, लेकिन बिना कहे ही जैसे सब कुछ कह दिया। उनकी नम आंखों से लगातार आ रहे सन्देश, अपने आप में बड़े स्पष्ट और सटीक थे।

' मेरे बारे में बहुत से लोग लिख रहे हैं ....क्या तुम नहीं लिखोगे? ' यह था उनका सवाल। उनका दिल भारी था और आवाज़ भर्रायी हुई थी।

'क्यों नहीं...ज़रूर लिखूंगा... और अब तो आपने आदेश भी दे दिया है।'

उन्होंने कुछ समय तक मुझे घूरा, जैसे मेरी बात के वज़न को तौलना चाहते हों। 'मेरे बारे में लिखना...' उन्होंने अपना एक हाथ अपने सीने पर मारा। 'मेरे जरिये दूसरे लोगों के बारे में नहीं..' और कुछ देर वह रुके, और पूरा वाक्य करते हुए बोले.....'अपने बारे में भी नहीं।' मैं कुछ भी नहीं बोला। बोलने को उस वक्त कुछ था भी नहीं। चमत्कारिक सिद्ध संत और पहुंचे हुए महात्मा के रूप में तो लोगों ने कई बार बाबा के बारे में लिखा है। मैं चाहता था कि बाबा को केवल हाड़ मांस के एक आदमी की तरह चित्रित करुं। उनकी व्यथा, उनकी सोच, अभिव्यक्त करुं। बहुत कुछ जो अनकहा रह गया था, उसे शब्दों की माला में पिरोने की कोशिश करके देखूं।

उनकी आंखों में झलक रहा दर्द का दरिया उफ़न कर बाहर आ जाता, उससे पहले ही वे गायब हो गये। अंधेरे का कम्बल पहन कर जिस तरह वह आये थे, ठीक उसी अन्दाज़ में प्रकाश के घेरों के बीच गुम भी हो गये। देखने में यह स्वप्न की तरह ज़रूर दिखता है, लेकिन सच तो सच है, उसे सपना मैं नहीं बनने दे सकता। उजाले के पंखों पर सवार, सच की अपनी अलग ही एक सुगंध जैसे होती है, और वह सपनों की सरहदों को छूती हुई ना जाने कब दूर चली जाती है, मालूम ही नहीं हो पाता।

सभी बखूबी जानते हैं कि राधा बाबा, किसी के परिचय के कभी भी मोहताज नहीं रहे। रोशनी से बचने के लिए, उन्होंने अपने को गुमनामियों के अंधेरे जंगल में देर तक छुपाये रखा। अपरिचितों की भीड़ में बरसों खो जाने का प्रयास किया। लोगों के दिलों को भीतर तक छूने की कला में वे माहिर थे। जो उनसे एक बार मिल लिया, वह हमेशा हमेशा के लिए उनका हो गया। यही कारण था कि उनको चाहने वालों की संख्या, गिनी नहीं जा सकती थी।

मिट्टी के मानुस से जीते जी महात्मा बनने तक का उनका सफ़र, कुछ लोगों की निगाह में बड़ा सरल रहा है। ऐसे लोग शायद नहीं जानते, कि लालमणि से राधा बाबा बनने तक की उनकी कठिन दौड़ कितनी कष्टप्रद रही है। इस दौड़ में उन्हें कितनी बार गिरना पड़ा है। कितनी बाधाएं पार करनी पड़ी हैं। फख़रपुर से गोरखपुर आने तक, उन्हें कितनी घाटियों को लांघना पड़ा है। कैसी कैसी विपरीत स्थितियों का सामना करना पड़ा है। उनकी विशेषता यही

थी, कि प्रत्येक संघर्ष को उन्होंने नितांत अकेले, बिना किसी ‘उफ’ के लड़ा और हरेक में सफल होकर, विजेता की भांति मुस्कुराते बाहर आ गये।

एक व्यक्ति लेकिन कब तक अपनी बलि देता रह सकता था। एक स्थिति ऐसी भी आई, जब उन्हें अपने इर्द गिर्द बने घेरों को तोड़ने के लिए जूझना पड़ा, और ऐसी भी एक स्थिति आई जब अपनी ही स्वतंत्रता को बचाने के लिए उन्हें अपने आसपास घेरों का निर्माण करना पड़ा। कुछ लोगों के अनुसार बाबा भगवान बनना चाहते थे और वह उन्होंने कर दिखाया। हकीकत में ऐसा बिल्कुल भी नहीं था। उनकी परिस्थितियों को भाईजी ने इस तरह अभिव्यक्त किया—

‘जब कोई संत अपने को ईश्वर की तरह प्रस्तुत कर रहा हो तो समझना चाहिए ....ऐसा वह अभिनय कर रहा है और अभिनय भी अपने किसी भक्त के विश्वास को बनाये रखने के लिए कर रहा है.... मुझे इसमें एतराज़ वाली कोई बात नज़र नहीं आती।’

बाबा ने अपने को हमेशा पारदर्शी बनाए रखने में कोई कसर बाकी नहीं रखी थी। उनके लिए हर व्यत्ति श्रीकृष्ण का ही स्वरूप होता था। प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान में, वे अपना माथा ज़मीन पर रगड़ रगड़ कर लहूलुहान कर बैठते थे। उनसे मिलकर जाने वाले व्यक्ति के लिए, वह मंगल कामनाएं करते थकते नहीं थे।

वे स्वयं मिट्टी से महात्मा बने थे और इसलिए हर मिट्टी के मानुस को महात्मा बनाने में पुरज़ोर जुट जाते थे। उनकी ऐसी ही कोशिशों को, उनकी सफलताओं और असफलताओं के मिले जुले दौर को, उनकी सोच को, दर्शन को और उम्र भर लड़े जाते रहे संघर्ष को, एक अर्थ, एक अभिव्यक्ति देने की ज़िद है यह पुस्तक। अभिव्यक्ति का मेरा अपना एक अलग तरीका हो सकता है। उस तरीके को हो सकता है कुछ लोग पसंद भी ना करें, लेकिन उनकी इस नापसंदगी की मुझे किंचित भी परवाह नहीं होगी। मैं अपने अन्तस की प्रेरणा के साथ चला हूं। मेरी सच्चाई और मेरी ईमानदारी ही मेरी कलम की ताकत है। मैं अपनी इस कृति की किसी अन्य की कृति से तुलना भी नहीं चाहता। अपनी इस कृति को पंक्ति से अलग देख, मुझे खुशी ही होगी। मैं इतना ज़रुर चाहता हूं कि जिस चीत्कार के आवरण को उन्होंने जीवन भर ओढ़ा और जिस सन्नाटे की गोद में जाकर वह खामोश होते रहे, अनदेखा और अनकहा ना रह जाए।

......फिर मेरा यह कार्य तो वैसा ही है, जैसे समय की ग़र्त को बुहार कर, धरती की छाती पर लिखी इबारत को कोई बांचने की कोशिश करे। पीछे मुड़कर केवल देखने से जब कई दरवाज़े अपने आप खुलने लग जाएं, और यादों की खिड़कियों से अनेक साये बाहर आने को मचलने लगें, तो समझना चाहिए कि ज़ेहन में जड़ा गुज़रा वक्त बेताबी के साथ, ज़िन्दगी की किताब के सफ़े पलटना चाहता है।

इस प्रस्तुति में जिन घटनाओं का ज़िक्र किया गया है, उनके कालक्रम के विषय में इन घटनाओं के गवाहों को, हो सकता है सहमत होने में परेशानी हो। यहां मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यह यादों का एक सिलसिला है और इसमें समय की परिधियों से परे जाकर उन्मुक्त सोच के सांचे में ढलते जाने वाला ब्यौरा प्रस्तुत करना मुख्य लक्ष्य रहा है। इन्हें काल के फ्रेम में कसने से, प्रवाह के अवरूद्ध हो जाने की पूरी संभावना है। मुमकिन है लय के टूट जाने से इसकी स्वाभाविकता ही खत्म हो जाए।

इस पर मेरा यह मानना है कि अपने पूरे और कुदरती विस्तार के साथ फैली कहानी ही एक व्यक्ति की सम्पूर्ण गाथा हो सकती है, वह समूचे युग की धड़कन बन सकती है। अनेक मूल्य स्थापित करते हुए उसमें पूरे समाज को सांस लेते हुए देखा जा सकता है।

वैसे भी यह एक सच्चे साधु की अलिखित डायरी से चुरायी गई कहानी है। ऐसी कहानी, जो मन्द गति से बहने वाली हिम नदी सी है, और जो स्वयं अपने लिए रास्ता चुनते हुए, आगे बढ़ती जाती है। इसके रास्ते में, जो भी पत्थर, कंकड़, मिट्टी, पत्ते आते हैं, या तो वे इसके साथ बहने लग जाते हैं या इसके लिए रास्ता छोड़ एक तरफ सरक जाते हैं। यही वज़ह है, कि इसमें उफ़ान नहीं है, फिर भी एक प्रवाह है, इसमें आन्दोलन नहीं है, फिर भी वेग है। इसके साथ चलते हुए, किसी को भी लग सकता है, जैसे यह उसके स्वयं की कहानी है। उसी के लिए जैसे रची गई है। वह बार बार इसमें अपने को विचरता हुआ पा सकता है और अचानक किसी भी मनपसंद पात्र से अपनी साम्यता बैठाने लग जाता है।

— सुभाष दीपक

कुछ पंक्तियां अपनी ओर से अपने बारे में

कई बार सोचता हूं मेरी अपनी ज़िन्दगी के मायने क्या हैं.....मेरी अपनी ही क्यों, मेरे जैसे असंख्य लोगों की ज़िन्दगियों के भी मायने क्या हैं? किसी प्रकार के सकारात्मक जवाब आने की प्रतीक्षा भी करता हूं, लेकिन लगता है भीतर ही भीतर गहराती गूंजों के बीच, वह कहीं गुम होता रहता है, बाहर नहीं आता। मेरी हर कोशिश बेकार साबित होती है। तब यह भी लगता है कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन तो जैसे अब भी शेष है हर व्यक्ति के जीवन में कठिन से कठिनतर दौर भी आते ही हैं, और ऐसे में जो अपना सर्वोत्तम निर्णय कर जाता है, उन परिस्थितियों के बियाबान से सुरक्षित बाहर निकल जाता है। और जो किसी उधेड़ बुन में लगा रहता है, अनगिनत खरोंचों और ज़ख्मों के साथ ताउम्र संघर्ष करने को जीता रहता है। राहत के मलहम की तलाश ही, उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन जाती है।

कैसा और कितना अजीब लगता है जब बेमकसद ही बिना चाहे किसी को ऐसे जीवन का निरर्थक लक्ष्य स्वीकारना पड़ता है।......फिर मेरे जैसे लोगों के साथ तो अमूमन यही होता आया है। इसमें अपनी मर्ज़ी के लिए कोई जगह नहीं होती। लगता है सफलता की सीढ़ियां जैसे किसी और के चढ़ने के लिए ही बनायी जाती हैं। मेरे जैसे लोगों को उन्हें सीढ़ियों में सहारा देकर चढ़ाने का कार्य ही करना होता है। लोग मेरे कंधों के सहारे ऊंचाइयों की हदों को छूते रहते हैं और मैं हर बार अपने पांवों को ज़मीन पर मज़बूती से गाड़ने लग जाता हूं। मेरी भुजाओं के बल पर लोग मज़बूत बनते जाते हैं और मैं हर बार, मालिश करके अपनी भुजाओं को ताकत देने के क्रम में जुड़ जाता हूं। जाने कब से ऐसा हो रहा है, और जाने कब तक ऐसा होता रहेगा।

कमाल है...... इस पर भी मैं थका नहीं हूं। पराजित भी महसूस नहीं करता। मैं झुका भी नहीं हूं और उसी दमख़म से सिलसिला जारी रखे हुए हूं। मैंने अपने लिए किसी एक मंज़िल का निर्धारण भी नहीं किया है.... लेकिन यक़ीनन, मैं लक्ष्यहीन भी नहीं हूं। मुझे लगता है कि किस्मत हमेशा मुझसे रूठी रही है। साथ

ही मेरा यह भी मानना है कि किस्मत ने जिसे दुलारा है उसे निठल्ला और उद्देश्यहीन भी बना दिया है। मुझे जद्दोज़हद की ज़िन्दगी ज़रूर मिली है, लेकिन साथ ही लड़ने की पूरी ताकत भी मिली है। अपनी ज़िद, हठ, लगन और लड़ने की इस ताकत पर मुझे गर्व है। भले ही मुझे प्रशंसाओं, चमत्कारों और उन्मादों के दौर से गुज़रने से प्रायः वंचित रहना पड़ा है, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि आशीर्वाद और प्यार के लिए उठे हाथों के नीचे से गुज़रने का मुझे कभी सौभाग्य ही नहीं मिला। थोड़े ही सही, लेकिन कुछ लोग हैं ज़रूर, जिन्होंने मुझे बेपनाह और बेमकसद मुहब्बत दी है। उनकी मुहब्बत और अहसानों का ही नतीजा है कि मेरी अपनी ज़िन्दगी की किताब के कुछ पन्ने रंगीन और रोमांचक भी हैं।

मुझसे मुहब्बत करने वाले अब जैसे भीड़ में कहीं खो गये हैं। अकेले होने का एहसास अब मुझे डराने लगा है। मैं सूनी आँखों से अब भी उन्हें तलाश रहा हूं। मुझे उम्मीद है उस शक्ल में ना सही, किसी और सूरत में वे मुझे मिलेंगे ज़रूर और ज़िन्दगी के रंगमंच का परदा गिरने से पहले ही मिलेंगे। हो सकता है हमारे संवाद अब दूसरे हों। शायद हम एक दूसरे को एक बार तो पहचाने भी नहीं। समय की बर्फ ने अब हमारे स्पर्शों में वह गरमी भी कहां बचा छोड़ी है!

मुझे अच्छी तरह याद है प्यार का एक एक हसीन लम्हा मेरे लिए, मेरी तमाम कोशिशों और मुश्किलातों की उस कीमत की मानिन्द रहा है, जो ज़िन्दगी कई बार हमसे वसूलती है। अगर प्यार का मतलब एक दूसरे में जज़्ब हो जाना है, तो दो अलहदा वजूद की तो हम सोच भी सकते नहीं। मेरा हमेशा से विश्वास रहा है कि अगर कोई प्यार करता है, तो वह सिर्फ प्यार करे और उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं करे। उसे याद रखना चाहिए कि समय हमारे लिए हमेशा पुरस्कृत करने वाला नहीं होता है और ऐसे में चुनौतियों और इम्तिहानों की घड़ी में प्यार का वह जज़्बा ही आपको प्रोत्साहित करता है। आपके भीतर की शक्ति को, आपके भीतर छुपे ईश्वर को जागृत करता है। हम जब विजयी होते हैं तो दरअसल अगली बार की चुनौतियों के लिए अपने को तैयार करते हैं, और जब पराजित होते हैं तो सबक लेते हैं, कुछ सीखते हैं।

मैं इस बात को नहीं मानता कि अतीत को वही याद करता है जिसका वर्तमान मनमाफिक ना हो या जिसे अपने आने वाले कल का ज्ञान ना हो। मेरी दृष्टि में आपकी पिछली ज़िन्दगी आपको समय समय पर रफ़्तार प्रदान करती है। आपको ऊर्जा और मजबूती मुहैय्या कराती है। हमारा सच भी हमेशा एकसा कहां रहता है.... वह भी समय के साथ साथ बदलता रहता है। स्थान के साथ साथ बदलता रहता है। व्यक्ति के साथ साथ बदलता रहता है।

इन्सान इतिहास को रचता है और इतिहास इन्सान को। हमारे अस्तित्व की हर कड़ी इतिहास से जुड़ी होती है। मेरे हिसाब से इतिहास तारीख़ों का सिलसिला मात्र नहीं है, बल्कि हमसे जुड़ी हमारी ज़िन्दगी का ना टूटने वाला हिस्सा है। हमेशा वह हमारे दिल और दिमाग से वाबस्ता रहता है। हम हर क्षण अपनी हर सोच से हर दिन एक पन्ना इतिहास में जोड़ते चलते हैं। हमसे मिला, हमसे बिछुड़ा हर चेहरा जब तब हमारे सामने अपना सवाल लेकर खड़ा नज़र आता है। उसे जवाब देते रहने की लगातार कोशिश ही हमें ज़िंदा रखती है, लिखने को विवश करती है।

— सुभाष दीपक

प्राक्कथन

किसी भी संत अथवा महापुरुष का जीवन, अगरबत्ती की उस भीनी–भीनी सुगंध की तरह होता है, जो ना केवल अपने सान्निध्य में रहने वाले लोगों के जीवन को महकाती है बल्कि बुझ जाने के बाद भी, अनेक लोगों को आनंदित एवम प्रभावित करती रहती है। उनके व्यक्तित्व की करुणा, प्रेम, अपनत्व रूपी सुगंध, उनके चले जाने के बाद भी, दर्शनार्थियों एवम श्रद्धालुओं के जीवन को प्रेरणा प्रदान करती रहती है। देश–काल–समय की परिधि से बाहर चले जाने के बावजूद, अपने चाहने वालों को यह निरंतर विश्वास दिलाती है कि वे, वहीं कहीं, अपने भक्तों के बीच में ही विद्यमान हैं।

प्रस्तुत पुस्तक हमारे ही समकालीन एक ऐसे संत के बारे में है, जिन्होंने गोरखपुर को अपना लीला–केंद्र बनाया, लेकिन जिनके चाहने वाले आज दुनिया के दूर–दराज़ कोनों में रहकर भी, उनका प्रतिदिन गुणगान करते रहते हैं। नाम और दाम कमाने की मृगतृष्णा से दूर रहकर, सुविधाविहीन जीवन को जीते हुए, अपना सम्पूर्ण जीवन ईश्वर को समर्पित करते हुए केवल और केवल भगवद्–चर्चा, भगवद्–भक्ति एवम भगवद्–भक्तों के बीच बिताते हुए, उन्होंने अपनी जीवन यात्रा गोरखपुर में पूर्ण की।

वैसे तो राधा बाबा पर, उनकी अहेतुक भक्ति, उनके उत्कट वैराग्य एवम् उनके द्वारा भक्तों के जीवन मे किये गये चमत्कारों पर, अनेक विद्वानों द्वारा बहुत सी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, और भविष्य में भी विद्वजन अनेक पुस्तकों की रचना करेंगे। लेकिन प्रस्तुत पुस्तक में, उनके जीवन के अनजान, अनछुए पहलुओं को सामने लाने की चेष्टा की गई है। लालमणि नामक साधारण ग्रामीण बालक के एक देशभक्त क्रांतिकारी बनने और तत्पश्चात परमपूज्य भाईजी श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार के संपर्क में आने के बाद 'राधा बाबा' बनने की कहानी है यह पुस्तक। इस संपूर्ण परिवर्तन अथवा 'ट्रांसफोर्मेशन' (transformation) को सामने लाने की, जो उतना ही आश्चर्यजनक है जितना अदभुत, एक कोशिश है यह पुस्तक। भाईजी के संग ने उनमें वही परिवर्तन किया जो दशकों पूर्व नरेन्द्र नाथ दत्त (स्वामी विवेकानंद) के जीवन में श्री रामकृष्ण परमहंस ने किया था, या

फिर शताब्दियों पूर्व प्लेटो के जीवन में सुकरात ने किया था। गुरू की पारखी निगाहें, कैसे योग्य शिष्य को तलाशती और तराशती रहती हैं, और योग्य शिष्य कैसे अपने गुरू की आनंददायक छाँव में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है, और अंततः ईश्वरत्व अथवा संपूर्णता को प्राप्त कर लेता है– यह जानना एक लंबी मगर दिलचस्प प्रक्रिया होती है। राधा बाबा के जीवन में यह प्रक्रिया किन–किन मोड़ों और किन–किन पड़ावों से होकर गुज़री, उसी के प्रस्तुतीकरण का प्रयास किया गया है इस पुस्तक में।

उम्मीद है, पाठकों को हमारा यह प्रयास पसंद आएगा और वे इस संदर्भ में, अपनी मूल्यवान राय से हमें अवगत करवा कर अनुगृहीत करेंगे।

– डॉ. सम्बोध गोस्वामी

“

उन सभी लोगों को समर्पित
जिन्होंने कभी न कभी
किसी न किसी रूप में
हमें बाबा से मिलवाया
और कृपा पात्र बनवाया।

“संन्यासी के वेश में कुछ दिनों से
जिसे आप भाईजी के साथ देख रहे हैं....
वह और कोई नहीं एक विद्यार्थी है....
केवल एक विद्यार्थी,
जो ज्ञान की खोज में भाईजी के
श्रीचरणों में बैठकर श्रीकृष्ण की भक्ति
के कुछ पाठ पढ़ने आ गया है।
बस यही मेरा परिचय है।”

“बन्द मुठ्ठी की रेत की मानिन्द वक्त गुज़रता जा रहा था
और लोगों के जत्थे के जत्थे ईश्वर बनने की होड़ में आगे
निकलते जा रहे थे। मैं अकेला खड़ा था। मुझे ईश्वर बनने
से पहले एक अच्छा इन्सान बनना था। एक ऐसा इन्सान
जिसे सब प्यार करें। जो सबका हो। अपना हो। जिसका
अपना कोई निजी स्वार्थ ना हो।
समय के गुज़रने के साथ साथ मुझे अनुभव होने लगा
मैंने कितना जटिल निर्णय ले लिया है। अच्छा इन्सान
बनने से कहीं ज़्यादा सरल है ईश्वर बन जाना। ”

....

1.

‘लाल! ओ लाल!’ कहते हुए मैया ने धुंए से जल रही अपनी आंखों को अपनी साड़ी के एक कोर से पौंछा और फिर सुलगती हुई लकड़ियों को चूल्हे से बाहर निकाल दिया।

‘कहां चला गया रे!’ मैया ने फिर कहा और पास ही एक भगोने पर रखे पानी से चार पांच छींटे सुलगती लकड़ियों पर मार दिये। चूल्हे पर रखी पतीली को उसने उतार कर एक ओर रख दिया और वह खड़ी हो गई।

भोर हो चुकी थी। पतझड़ के दिन थे। घर के आंगन में लगे नीम के पेड़ की पत्तियां फ़र्श पर बिछ गई थीं और हवा के चलने के साथ साथ इधर उधर उड़ रही थीं।

‘कभी टिक कर एक जगह नहीं बैठता’ कहती हुई मैया बाहर खुलते हुए दरवाज़े पर आकर खड़ी हो गई। अपने बैलों को हांकता हुआ भीखू सामने से गुज़र रहा था।

‘अरे कहीं लालमणि को देखे हो?’ मैया को कुछ नहीं सूझता है तो उससे ही पूछ बैठती है।

पहले भीखू सुनकर हंसता है और फिर कहता है ‘ये कौन बैठे हैं..... जरा बाहिर आकर तनिक देख तो लो।’ और अपनी राह बढ़ जाता है।

पास ही के मकान के बाहर बैठी गाय रम्भाती है। थोड़ी ही देर में दौड़कर जाने कहां से एक बछड़ा आता है और गाय के थनों पर मुंह मारने लग जाता है। गाय घूम घूम कर उसे चाटना चाहती है और वह है कि उसके पांवों के बीच से निकलना ही नहीं चाहता। मुझे यह दृश्य बड़ा अच्छा लग रहा था। मैने सुना ही नहीं कि मैया कब से मुझे पुकार रही है और मेरे ना सुनने से व्याकुल हो गई है।

‘क्यों रे! कब से बैठा है यहां......जवाब क्यों नहीं देता?’ कहकर मैया मुझे गोद में उठा लेती है।

बछड़ा अब भी गाय के पैरों के बीच उछलकूद कर रहा था। मेरी निगाह वहां से हटना ही नहीं चाहती थी । मैया मुझे भीतर लेकर आ गई और उसने दरवाज़ा भिड़ा लिया।

‘क्या तुझे भी भूख लगी है?’ मैया मुझसे पूछती है। मुझे इस समय भूख की बात करना अच्छा नहीं लगता। मैं गर्दन हिलाकर मैया की गोद में सिर छुपा लेता हूं। वह मुझे प्यार करते हुए, एक कोने में बिछी खाट पर, बिठा देती है। मैया ने जो किवाड़ भिड़ाए थे, हवा से फिर खुल गये और गाय और बछड़े का खेल अब मुझे फिर दिखाई देने लग गया। मैं चुपचाप बैठ गया। मैया निश्चिंत होकर भीतर गई और एक गिलास में दूध लेकर आ गई।

‘ले, पी ले जल्दी से’ कहती हुई मैया मेरे पास ही बैठ जाती है और

गिलास को मेरे ओठों से लगा देती है। मैं अपने हाथों से उसे दूर करने की चेष्टा करता हूं।

'क्या हुआ?'

'नहीं, अभी नहीं' मैं कहता हूं।

'क्यों, अच्छा नहीं है दूध?' वह फिर पूछती है।

'नहीं, अभी नहीं' मैं फिर कहता हूं। मैया को इस पर आश्चर्य होता है। प्रायः सुबह उठकर एक गिलास दूध पीना मेरा नियम बन गया था, लेकिन पता नहीं क्यों, आज मन नहीं कर रहा था। दुपहर होने को आई थी।

'देख, तू दूध पिएगा, तो मैं एक बढ़िया सी चीज़ दूंगी—' अब की बार मैया लालच देती है। मेरी आंखें कुतूहल से चौड़ी हो जाती हैं। मै सोच नहीं पाता क्या चीज़ होगी वह।
मैया उठ खड़ी होती है और गिलास मुझे पकड़ा कर भीतर चली जाती है।

मैं भी बातों में कहां आने वाला था। गिलास पकड़े रहता हूं। दूध नहीं पीता। इंतज़ार करता हूं कि देखें, मैया क्या लेकर आती है। सचमुच मैया थोड़ी देर में वापिस आ जाती है और उसके पल्लू में कोई चीज़ छुपी होती है। अब मैं रुक नहीं पाता हूं और झट से गिलास को मुंह से लगा लेता हूं।

'शाबाश!' मैया गिलास खाली होने पर उसे ले लेती है और 'यह ले—तेरी चीज़' कहकर मुझे गोद में उठा लेती है। । मैया अपने पल्लू में छुपी एक मूरत निकालती है। आरती का वह टूटा हुआ हत्था होता है और एक औरत की आकृति उस पर बनी होती है।

'यह क्या है?' मैं जिज्ञासावश पूछता हूं।

'यह गोपी है.... इसकी रोज़ पूजा किया कर' मैया मुझे समझाने की कोशिश करती है।

मैं ग़ौर से देखता हूं। सचमुच वह एक नारी की आकृति होती है। उसके नाक नक्श स्पष्ट मुझे दिखाई देते हैं। वह जैसे मुस्कुरा रही होती है। मै उसे ले लेता हूं। मुझे लगता है जैसे कोई अलभ्य वस्तु मेरे हाथ लग गई है।

'मैया! यह गोपी कौन होती है?' मैंने यह शब्द पहली बार सुना था इसलिए पूछ लिया।

'गोपी! गोपी श्रीकृष्ण भगवान की सहेली होती है। राधाजी की सहेली होती है.... वे हमेशा उनके साथ रहती हैं' मैया ने कहा।

'अच्छा!' मुझे आश्चर्य हुआ।

'जब तू गोपी की पूजा करेगा.....वह तेरी सारी बातें राधाजी और कृष्णजी से कह देंगी।'

'फिर क्या होगा?'

'फिर! फिर वे तुम्हें भी अपने साथ खेलने को बुला लेंगे।'

'सच!' इस पर मुझे आश्चर्य हुआ।

'बिल्कुल' मैया ने आश्वस्त किया तो मुझे चैन पड़ा लेकिन तब ही मुझे एक चिंता भी हो गई।

'...... तब तो मैं रोज़ इसकी पूजा करूंगा....लेकिन मैया, क्या तू भी मेरे साथ चलेगी?'

'अरे, यह भी कोई पूछने की बात है.... मेरा लाल जहां जाएगा... मैया के संग ही तो जाएगा।'

अब मैं निश्चिंत हो गया। मुझे लगा जैसे मेरे पास एक जादुई चीज़ आ गई है और उसके सहारे मैं जाने क्या क्या हासिल कर लूंगा। मैंने मूर्ति को उठाया और उसे लेकर बाहर आ गया।

तेज़ हवा चल रही थी। सूरज के अस्त होने का समय भी हो गया था। दूर बादलों के झुण्ड इकट्ठे हो रहे थे। लगता था शायद बारिश हो जाए। घर के सामने के मैदान में कुछ बच्चे दौड़–दौड़ कर खेल रहे थे। मुझे बाहर आते देख वे मेरे पास चले आये।

'क्या छुपा रहे हो तुम?' उनमें से एक ने देखा कि मैंने अपनी कमीज़ के भीतर कुछ छुपा रखा है। बाकी के बच्चे भी मेरे और नज़दीक चले आये।

– 'बताओ न, लालमणि, क्या है वह?' इस बार उनमें जो सबसे बड़ा था, रौब से बोला। मुझे डर तो कहीं से भी छू तक नहीं गया था।

'क्यों बताऊँ.... यह एक मूर्ति है....' मेरे मुंह से अचानक निकल तो गया, लेकिन अब मैं आगे कुछ नहीं बोल सका और मैंने मूर्ति को कस कर पकड़ लिया। मुझे लगा मुझे बताना नहीं चाहिए था कि मेरे पास क्या है।

'ओह! मूर्ति का क्या.... वह मेरे पास भी है, घर में पड़ी है' एक बालक ने अकड़ते हुए कहा तो सभी हंसने लगे।

'लेकिन, ऐसी थोड़े ही है' कहते हुए एक झटके से मैंने अपनी कमीज़ के भीतर छुपी गोपी की इस मूर्ति को बाहर निकाल लिया।

सारे बच्चों ने देखा, सच में पीतल की चमचमाती वह मूर्ति बड़ी सुन्दर और सुडौल है। उन लोगों के पास भी मूर्तियाँ तो थीं लेकिन वे मिट्टी की बनी हुई थीं। वे सब आंखें फाड़ – फाड़ कर उसे घूरते रहे। एक ने आगे बढ़कर उसे छूने की कोशिश की तो मैंने धमका दिया।

'खबरदार! छूना नहीं, यह पूजा करने की है।' अब सब पीछे हट गये। मैं अपनी मूर्ति लेकर फिर अपने मकान के बाहर बनी चौकी पर जाकर बैठ गया। यह सब चल ही रहा था कि अचानक गली के मोड़ से निकल कर एक बहुरूपिया साधु मेरी ओर बढ़ते हुए आने लगा। बाकी के सारे बच्चे डर कर दूर भाग गये। मैं अपने स्थान पर चुप बैठा रहा। साधु ने अपने पूरे शरीर पर राख लपेट रखी थी और माथे पर सफेद तिलक लगा रखा था। उसकी चमड़ी का रंग एकदम काला था और उसने अपने एक हाथ में बड़ा सा त्रिशूल ले रखा था। उसके दूसरे हाथ में एक डमरू था। शरीर को ढकने के लिए उसने अपनी कमर में एक चमड़ा लपेट रखा था। चाल से वह बड़ा गर्वीला लग रहा था। बड़े बड़े कदम रखते हुए

वह मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। मुझे समझ में नहीं आया कि इस परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए। साधु के चेहरे पर अद्‌भुत तेज था और वह अपनी बड़ी बड़ी आंखों से मुझे घूर रहा था। जाने मुझे क्या हुआ, मैं भी एकटक उसकी आंखों में देखने लगा। मुझे नहीं मालूम कितनी देर तक हम एक दूसरे को देखते रहे। उसके पास जैसे कहने को बहुत कुछ था और वह बिना बोले अपने सन्देश मुझे नज़रों के माध्यम से भेजे जा रहा था। साधु ने अनुभव किया बालक साधारण नहीं है। उसने अपने त्रिशूल पर लगी सिन्दूर अपनी अंगुली में लगाई और ज़ोर से मेरे ललाट पर फेर दी।

'बम बम भोले। जा, तेरा कल्याण हो।' कहकर उसने ज़ोर से डमरू बजा दिया और आगे बढ़ गया।

जो कुछ हो गया, मुझे बुरा तो नहीं लगा लेकिन उसका अर्थ मेरे दिमाग में नहीं घुसा। बस मुझे लगा जैसे वह बहुत कुछ मुझे बताकर चला गया है। उसके पास जैसे एक ट्रान्समीटर था। अनजाना सा सन्देश वह मेरे रिसीवर पर भेज रहा था। इसी बीच मैया को डमरू की आवाज़ सुनाई दे गई थी। वह झपट कर बाहर आ गई। साधु की पीठ भर, वह देख पायी। उसने तुरंत मुझे गोद में उठा लिया और भीतर लेकर दौड़ गई। इतने में मेरी भाभी भी अपने कमरे से बाहर आ गई थी।

'क्या हुआ?' उसने सहज हो पूछा।

'कुछ नहीं, एक साधु महाराज आये थे।'

भाभी को लगा मैया हांफ रही है। शायद डर भी गई है। भाभी दौड़कर बाहर गई। दूर एक बेढंगा सा साधु जाता हुआ नज़र आ रहा था। वह भीतर आ गई और उसने किवाड़ भिड़ा दिया।

'अरे, यह तिलक कैसा?' अचानक भाभी की नज़र मेरे ललाट पर लगे सिन्दूरी तिलक पर पड़ गई। तुरन्त उसने हाथ से उसे पौंछ डाला। 'ज़रुर इसे उसी साधु ने लगाया होगा' कह कर वह मैया की गोद से मुझे अपनी गोद में ले लेती है। सब को लगता था ऐसे साधु टोने–टोटके भी कर सकते हैं और इसीलिए उनसे दूर रहने में ही अपना भला समझते थे।

वह चला तो गया, लेकिन मुझे अब भी उसकी पैनी निगाहें अपने को भेदती महसूस हो रही थी। उसका नाम मात्र का पहनावा मेरे लिए कुतूहल का विषय बन गया था। हालांकि उसकी बेफिक्री और शिवजी के प्रति उसका विश्वास मुझे बहुत बहुत अच्छा लगा था। मैंने कल्पना की कि मैं भी उसी पोशाक में त्रिशूल लिए शिवजी के समक्ष खड़ा हूं और 'भोले, बम बम भोले' का जाप कर रहा हूं। जाने कब तक मैं जपता रहा। मेरी आंखें भर आईं और उनसे झर झर आंसू गिरने लगे।

'अरे, यह क्या?....रो रहा है तू!' अचानक मैया ने मुझे रोते देखा तो वह डर गई। 'क्या डर गया तू..... उस बहुरूपिये से..... अरे, ये लोग तो ऐसे ही मनोरंजन के लिए आते हैं....' अब की बार मैया ने मुझे समझाना चाहा और ऐसा कहकर खुद को भी ढांढस बंधाया।

मैं कुछ नहीं बोल सका। अब भी मेरे कानों में साधु की आवाज गूंज रही थी। 'जा तेरा कल्याण हो'.......'जा तेरा कल्याण हो।'

'मैया!' अचानक मैं मैया के पास जाकर बोला 'यह कल्याण क्या होता है?'

'कल्याण.... क्या कल्याण?' मैया को कुछ समझ में नहीं आया।

'जा तेरा कल्याण हो – ऐसा कहा साधु ने' मैंने मैया को बताया तो मैया ने राहत की सांस ली और बोली 'इसका मतलब है......तेरा भला हो...'

'भला, मतलब ?' अब की बार मुझे फिर कुछ अटपटा लगा।

'भला, मतलब .....अच्छा– हो ।'
अबकी बार मुझे समझ में आ गया। मुझे यह सोच कर अच्छा लगा कि एक अनजान व्यक्ति, जो मुझे जानता तक नहीं मुझ से कह गया 'अच्छा हो'। मुझे विश्वास हो गया, वह ज़रूर भला आदमी है।

वास्तव में बाहरी दुनिया के किसी व्यक्ति से यह मेरा पहला साक्षात्कार था। मुझे अनुभव हुआ कि ईश्वर नाम की एक बहुत बड़ी शक्ति है कहीं, जो अपने

प्रभाव से समूचे जगत को संचालित करती रहती है। उसकी भक्ति से क्या कुछ हासिल नहीं किया जा सकता। साधु को ही देखो, सब कुछ छोड़ छाड़ कर वह सिर्फ शिव की भक्ति में समर्पित हो गया और इस पर भी कितना खुश है।

कहने को तो मैं मैया की गोदी में लेटा था, लेकिन हकीकत में तो मन्द मन्द बहती शीतल सरिता के प्रवाह में बहता चला जा रहा था। बहते बहते ही मुझे जाने कब नींद आ गई। मैं सो गया।

वास्तव में उस शाम अध्यात्म से अचानक जिस तरह मेरा परिचय हुआ ठीक उसी दिन से मेरा बालपन भी खो गया। अब अपने हम उम्र बच्चों के साथ वक्त गुज़ारना मुझे वक्त नष्ट करना लगता था। जब भी मैं अकेला होता आंखें बंद करके ध्यान लगाने लगता। एक विशाल नीला आकाश मेरे सामने आ जाता। उसमें उमड़ते घुमड़ते धवल बादल, मुझे लगता शिवजी के अर्चन को दौड़ दौड़ कर जल ले जा रहे हैं। मुझे लगता पूरी प्रकृति उस नीलकण्ठ के चरणों में अर्पित होने को मचलती रहती है। नींद में भी मैं जैसे उस साधु के पीछे पीछे चला जा रहा था। चला जा रहा था। कब तक जाता रहा मुझे नहीं मालूम लेकिन अचानक जैसे मुझे किसी ने धक्का दिया और चौंक कर मैं उठ बैठा।

'क्या हुआ? कोई सपना देखा क्या?' मैंने देखा सुबह हो गई है। पास ही बैठी भाभी ने मुझे चौंक कर उठते देख लिया था।

'हां, मैंने सपना देखा।'

'अच्छा, क्या देखा?'

'देखा, शिवजी मुझसे कह रहे हैं , गीत गाओ'

'वाह!' अबकी बार भाभी जोर से हंसी। 'अच्छा, यह तो बड़ी बढ़िया बात है..क्या गाने को बोला?'

'बोला, गीत गाओ', मैंने कहा।

'लेकिन गाना तो स्त्रियां गाती हैं' भाभी ने अपनी बात रखी। वास्तव में हमारे परिवार में गीत गाना स्त्रियों का ही काम था।

'हां, लेकिन.... मुझे तमगा चाहिए .... शिवजी ने कहा तुम्हें पुरस्कार मिलेगा.... स्कूल में गाओ।' अब की बार उनके सामने मेरे मन की सारी बात स्पष्ट हो गई।

'अरे तमगा तो मैं भैया से कहकर तुम्हारे लिए वैसे ही मंगा दूंगी' अब की बार भाभी ने सोचा, शायद ऐसे ही बात बन जाए।

'नहीं, ऐसे नहीं.... स्कूल की सभा में.... हैड मास्टर के हाथ से चाहिए' अब की बार मैंने फिर से अपनी मंशा बता दी तो भाभी गम्भीर हो गई। उसे लगा, ज़रूर मैंने गाना गाने की ठान ली है।

'भाभी, क्या मुझे गाना सिखाओगी।'

'मैं?'

'हां! ,

'....अं....अं.... ठीक है' कहते हुए भाभी ने अपने चारों ओर देखा जैसे कुछ खोज रही हों। अचानक सामने पड़ी एक पत्रिका, 'स्त्री शिक्षा' पर उसकी नज़र पड़ गई।

'जाओ, उसे लेकर आओ तो!' अब की बार भाभी ने सचमुच ठान लिया कि वह गीत सिखाएगी मुझे। मैंने दौड़कर वह पत्रिका ला दी।

'देख, इसमें दो भजन छपे हैं, तू उन्हें अच्छी तरह याद करले।' भाभी शायद टालना चाहती थी और सोचती थी इतनी सी उम्र का बालक, इन भजनों को क्या याद करेगा और शायद थोड़ी देर बाद सब कुछ भूल भी जाएगा। मैंने तुरन्त उस पत्रिका को ले लिया और कमरे से बाहर आकर सीधा छत की ओर जाने वाली सीढ़ियां चढ़ गया। भाभी भी हंस कर अपने काम में लग गई।

....

2.

उस दिन बड़े सवेरे ही तैयार होकर मैं स्कूल पहुंच गया था। मैंने देखा बाकी विद्यार्थी अभी आये नहीं थे। मैं चुपचाप जाकर एक पेड़ के नीचे बैठ गया।

समय होने पर सभागार का दरवाज़ा खुला और रह रह कर लड़के लड़कियों के झुण्ड उसमें घुसने लगे। मैं कद काठी से छोटा और कमज़ोर बालक था। जब भी भीड़ भड़क्का और ज़ोर आजमाईश का मौका आता, मैं प्रायः फिसड्डी ही साबित होता था। मैंने सोच रखा था कि जब सब विद्यार्थी भीतर चले जाएंगे, तब मैं जाऊंगा। थोड़ी देर में मैंने देखा, बाहर का मैदान करीब करीब खाली हो चुका है। इसका मतलब सभागार भर चुका था।

'अरे, लालमणि, तुम नहीं चलोगे सभा में?' अचानक एक सहपाठी पास आकर मुझसे पूछता है।

'क्यों नहीं चलूंगा?' मैंने उठते हुए कहा।

'अरे भई, जाएगा क्यों नहीं, क्या पता एकाध इनाम इसके नाम भी हो?' साथ में आए एक ने दूसरे लड़के से कहा, तो मुझे गुस्सा नहीं आया, बल्कि उस लड़के पर तरस ही आया।

मैं आकर सबसे पिछली बैंच पर बैठ गया। वहीं मुझे कुछ स्थान रिक्त नज़र आये। तब ही हैड मास्टर साहब अपने साथ मुख्य अतिथि को लेकर सभागार में आये और अपनी सीट पर बैठ गये। सभागार में सन्नाटा छा गया। हैड मास्टर साहब अपनी सीट से उठे और उन्होंने पहले तो मुख्य अतिथि को माला पहनाई और फिर तालियों की गड़गड़ाहट के बीच माइक के सामने आकर खड़े हो गये।

'विद्यार्थियों, प्रतियोगिताओं के सफल आयोजन के लिए मैं आप सबको बधाई देता हूं। मुझे खुशी है इस बार भी प्रतियोगिताओं में सबने खूब बढ़ चढ़ कर भाग लिया। मैं मुख्य अतिथि महोदय से निवेदन करूंगा कि ..... वे पुरस्कार वितरण समारोह शुरू करने की अनुमति प्रदान करें....' अचानक वे रुक गये। 'देखिये.... वहां पिछली बैंच पर से एक छोटा बालक कुछ कहना चाह रहा है।' उनकी नज़र मुझ पर पड़ ही गई। मैं बैंच पर खड़ा था और हाथ उठाकर कुछ कहने की अनुमति मांग रहा था।

'यहां आओ .... बच्चे .... आगे आओ.... हमारे पास', इस बार हैड मास्टर साहब ने मुझसे पास आने को कहा। मैं यही तो चाहता था। सब लोग एकटक मुझे ही देख रहे थे। उन्हें अन्दाज़ा भी नहीं था कि मैं क्या कहना चाह रहा हूं। मैं चल कर मंच पर आ गया। हैड मास्टर साहब ने स्वयं हाथ बढ़ाकर मुझे मंच पर चढ़ाया।

'बोलो– बच्चे, क्या कहना चाहता हो?' मुझसे अबकी बार मुख्य अतिथि ने पूछा।

'मैं एक गीत सुनाना चाहता हूं' मेरे मुंह से निकल गया।

'वाह! क्या बात है...... कार्यक्रम की शुरूआत् संगीत और गीत से हो, तो बात ही कुछ और हो जाती है। सुनिये सब चुप हो जाइये.. यह बालक आपके

सामने एक गीत गाएगा। हम अपना कार्यक्रम इसी से शुरू करेंगे।'

सभा में सन्नाटा छा गया। मेरा कद बहुत छोटा था। हैड मास्टर साहब के कहने पर एक अध्यापक ने मुझे एक मेज़ पर खड़ा कर दिया और मेरे सामने माइक सेट कर दिया।

'सुनाओ' अबकी बार आदेश आया।

मैंने मन ही मन याद किये गये गीत को और एक बार दुहराया.... और बस, फिर शुरू हो गया। मेरा विश्वास देखने लायक था। आज तो जैसे स्वयं सरस्वती मेरे कण्ठ में विराज रही थी। स्वर और ताल का संगम अपने आप ही बैठ रहा था। आवाज़ मेरी वैसे ही मीठी और स्पष्ट थी। सब जैसे मंत्र मुग्ध हो गये।

'सुधि लीजे प्रभु–क्यों बिसारा हमें.....' जैसे ही मेरा गीत खत्म हुआ– सब चुप थे। लोगों को जैसे सांप सूंघ गया। सब खामोश। अचानक तालियां बजनी शुरू हुई तो बस खत्म ही नहीं हो रही थीं। सारा हॉल गूंज गया। 'एक बार और' 'एक बार और' की आवाज़ें आ रही थीं। हैड मास्टर साहब ने उठ कर मुझे गले लगा लिया। मुझे गोद में उठाकर वे माइक के सामने आए।

'पुरस्कार वितरण का औपचारिक प्रारम्भ तो अब होगा लेकिन संगीत का प्रथम पुरस्कार मैं अभी से तुम्हें देता हूं' कहते हुए उन्होनें मुख्य अतिथि की ओर देखा.... जो लगातार तालियां पीटे जा रहे थे। अब वे भी अपनी सीट से उठे और मेज़ पर रखे तमगों में से एक तमगे को उठाकर उन्होंने मेरी कमीज़ की जेब पर टांग दिया। एक बार फिर हॉल तालियों से गूंज उठा।

'क्या तुम्हें और भी गीत आते हैं?' इस बार मुख्य अतिथि ने मुझसे मेरी पीठ थपथपाते हुए पूछा।

'हां, एक और आता है' मेरे मुंह से तपाक से निकल गया, क्योंकि मैंने दोनों ही गीतों को कण्ठस्थ कर लिया था और मुझे विश्वास था कि दूसरे गीत को भी खूब पसन्द किया जाएगा।

'तो, चलो, उसे भी सुनाओ'

मैं शुरू हो गया। उसी तल्लीनता से। उसी भाव से। सरस्वती देवी ने फिर मेरा साथ दिया। मेरी गायकी और स्वर सज्जा के सम्मोहन से सभा में उपस्थित सभी छात्र, अध्यापक और अभिभावक एक बार फिर अभिभूत हो गये। इस बार भी गीत की समाप्ति पर मेरा तालियों से स्वागत किया गया। हैड मास्टर साहब ने मेरे सिर पर हाथ फेरा और मुझे मेज़ से नीचे उतार कर अपनी सीट के पास ही रखी एक कुरसी पर बिठा दिया।

मुझे लग रहा था अब मैं एक साधारण विद्यार्थी नहीं रह गया था। मेरी कमीज़ पर समारोह का पहला तमगा लगा हुआ था और जिसे देखो वही मेरी ओर प्रशंसात्मक दृष्टि से देख रहा था। वे लड़के जो थोड़ी देर पहले मेरा उपहास कर रहे थे, अब मेरे निकट आना चाह रहे थे। उनकी आंखों से व्यंग्य के तेवर गायब हो चुके थे।

समारोह में बाद में क्या क्या हुआ, मैंने वहां रहकर भी जैसे नहीं देखा था। मैं तो बस इतना चाहता था कि समारोह समाप्त हो तो मैं मैया और भाभी को अपना तमगा दिखाऊं। भाभी के प्रति मेरे मन में कृतज्ञता का भाव हिलोरें मार रहा था। उसी की सलाह और उसी के बताये तरीके से आज मुझे पुरस्कार मिल सका था।

समारोह के समाप्त होते ही मैं सीधे घर की ओर चल दिया। मेरे घर पहुंचने से पहले ही कुछ तेज़ तर्रार लड़कों द्वारा मेरे पुरस्कार लेने की बात मेरे घर पर पहुंचा दी गई थी। मैं जब घर पहुंचा तो मैंने देखा मैया, भाभी और भैया वगैरह बाहर ही खड़े थे और मेरा इंतज़ार कर रहे थे। जैसे ही मैं उनके नज़दीक पहुंचा उन्होंने मुझे गोद में उठा लिया और मेरा मुंह गुड़ से भर दिया।

इस पूरी घटना से और तो अधिक कुछ नहीं हुआ बस मेरा शिवजी पर विश्वास और प्रगाढ़ हो गया। अब मैं और ज्यादा शिवजी के ध्यान में लग गया। हमेशा उनका ही विचार करता रहता । उनकी ही पूजा करना चाहता।

....

3.

समय तेज़ गति से दौड़ रहा था। मैंने जैसे ही आठवीं कक्षा पास की, समस्या यह हो गई कि आगे की पढ़ाई अब गांव में सम्भव नहीं थी। उसके लिए गया शहर के हाईस्कूल में दाखिला लेना ज़रूरी था। वहां दाखिले के लिए यह भी मेरे लिए आवश्यक था कि मैं वहां की प्रवेश परीक्षा, अच्छे अंकों के साथ 'पास' करूं।

‘पास’ करने में मुझे कोई परेशानी नहीं थी सिवाय गणित विषय के, जिसमें मैं बहुत कमज़ोर रहा था और जैसे तैसे ‘पास’ मार्क्स ही लाता रहा था। उस परीक्षा में सिर्फ ‘पास’ मार्क्स लाने से काम नहीं चलने वाला था। अच्छे अंक आना ज़रूरी था। मैं काफी प्रयत्न भी करता पर गणित के सवाल जैसे मेरे सिर के ऊपर से निकल जाया करते थे, मेरे भेजे में घुसते ही नहीं थे।

अचानक मुझे फिर शिवजी का आश्रय लेने का विचार आया। मैं अब लगातार उनसे प्रार्थना करता रहता कि वे ही कोई रास्ता दिखायें। मुझे विश्वास भी था कि ज़रूर इस बार भी वे मुझे पर कृपा करेंगे। परीक्षा की तिथि नज़दीक आने लगी। मुझे याद है एक दिन मैंने, जाने मुझे क्या सूझी, कि ब्लेड को अपनी अंगुली में चुभोकर उसका रक्त शिवजी को चढ़ा दिया। कुछ बूंदें रक्त की चढ़ाने के बाद मुझे लगा अब जल्दी ही शिवजी ज़रूर मेरे ऊपर कृपा करेंगे। इसी उधेड़ बुन में एक रात मुझे स्वप्न आया कि मैं अपने भैया से गणित पढ़ रहा हूं और वे मुझे तल्लीनता से पढ़ा रहे हैं। सुबह उठते ही मुझे लगा, ज़रूर यह शिवजी का ही आदेश है। मैंने अपनी गणित की किताब उठायी और भैया के सामने जाकर रख दी। साथ ही अपनी मुश्किल भी बता दी। भैया ने किताब अपने पास रखते हुए मुझे अगले दिन मिलने को कहा। मेरे पास और कोई उपाय भी नहीं था। अन्य विषयों को तो मुझे लगता था पढ़ने की ज़रूरत ही नहीं है, मैं वैसे ही उनमें अच्छे अंक ले आऊँगा।

अगले दिन भैया ने मुझे एक पर्चा दिया जिसमें उन्होंने कुछ सवाल और उनके हल लिख दिये थे और मुझसे कहा कि इन्हें याद कर लूं। मैंने ऐसा ही किया। शायद इसे चमत्कार ही कहूंगा कि प्रवेश परीक्षा में उनमें से अधिकांश वैसे के वैसे ही सवाल आ गए। मैंने तो उनके हल याद कर ही लिए थे। बस, मैं अच्छे अंकों के साथ उत्तीर्ण हो गया और अब वहां पढ़ने के लिए जाने की तैयारी करने लगा।

जब मैं प्रवेश परीक्षा देने के लिए शहर गया था तो हमें एक धर्मशाला में ठहरना पड़ा था। करीब पचास लड़कों को वहां ठहराया गया था। जिले भर से लड़के आये थे। मां ने मुझे चलते वक्त एक पांच रूपये का नोट दिया था और कहा था मुसीबत के वक्त काम आएगा इसलिए सम्भालकर अपने पास रखे रहूं। इत्तेफ़ाक की बात, मैंने यूं ही उस नोट के नम्बर भी अपनी डायरी में नोट कर लिए। हुआ यूं कि वह नोट किसी ने चुरा लिया। परीक्षा के अधिकारी को जब मैंने

अपने नोट चोरी होने की बात बताई तो उसने कुछ भी सहायता करने से इन्कार कर दिया। यहां तक कि नोट के नम्बर बताये जाने पर भी उसे बरामद करने में कोई कार्यवाही करने से इन्कार कर दिया। मुझे विश्वास था वह नोट ज़रूर मेरे साथ ठहरे किसी लड़के ने ही चुराया है। साथ ही मुझे इस बार भी शिवजी पर यकीन था कि वे ज़रूर मेरा नोट मुझे वापिस दिलवाएंगे।

अंत में मैं धर्मशाला के अधिकारी के पास गया और नोट गुम होने की बात बताई। उसने धैर्य पूर्वक पूरी बात सुनी और मुझसे ही पूछा 'मैं इसमें क्या कर सकता हूं?' मेरे लिए इतना ही पर्याप्त था। मैंने उससे प्रार्थना की कि वे सब विद्यार्थियों को एक पंक्ति में खड़ा करवा दें। मैं उनमें से चोर को पहचान लूंगा। ऐसा करने में उसे कोई एतराज नहीं था। शाम को जब सब लड़के परीक्षा देकर वापिस अपने घर जाने को तैयार हुए, उसने उन सबको एक पंक्ति में खड़ा कर दिया और मुझे बुलाया तथा अपना कार्य करने को कहा। मैं एक एक करके उनके सामने से गुज़रता गया और उनकी आंखों में देखता गया। मुझे विश्वास था कि शिवजी की कृपा से, जो चोर होगा, वह निगाह नहीं मिला पावेगा। सच में यही हुआ, एक लड़के की नज़रें नीची हो गईं। मैंने तुरन्त उसे धर्मशाला अधिकारी के सामने खड़ा कर दिया।

'इसी ने मेरा नोट चुराया है' मैंने कहा।

'क्यों लड़के, क्या यह बात सही है?' उसने उस लड़के से पूछा।

'नहीं! सही नही है' लड़के का उत्तर था।

'महाशय, आप इसकी तलाशी लीजिये ..... मेरा विश्वास है मेरा नोट अवश्य ही इसके पास है' मैंने फिर ज़ोर दिया।

– अबकी बार वह लड़का रुआंसा हो गया। धर्मशाला अधिकारी उसे एक तरफ ले गया और धीरे से पूछा। उसने निकालकर पांच का नोट सामने रख दिया। अधिकारी नोट लेकर आया। मैंने उससे नम्बर जांचने को कहा। मेरे द्वारा नोट किए गये नम्बर और उस नोट के नम्बर एकदम मिल गए।

अब तो सब को खुशी भी हो रही थी और मेरे विश्वास पर आश्चर्य भी हो

रहा था। सब कोई मुझसे पूछने लगे कि मैंने कैसे पता लगा लिया कि नोट उसी ने चुराया है। मैं सबको 'शिव कृपा' कह कर टालता रहा। मुझे लगता था मेरा नोट कदाचित् मुझसे गिर गया होगा और इस लड़के ने उसे उठाकर अपने पास रख लिया। अगर वह मुझे वापिस लौटा देता तो कदाचित् ऐसी स्थिति नहीं बनती।

ख़ैर, मेरा स्कूल में दाखिला हो गया। मुझे वहीं छात्रावास में जगह भी मिल गई। प्रायः खाली वक्त में दूसरे लड़कों के साथ खेलने में वक्त ज़ाया ना करके, मैं वहां के फाटक पर झूल झूल कर मन बहला लिया करता था। एक दिन की बात है, मैं फाटक पर झूल रहा था कि एक साधु जाने कहां से आया और मेरे पास खड़ा हो गया।

'क्या बात है बाबा?'

'भूख लगी है बेटा, कुछ खाने के लिए चाहिए'।

मैंने ऊपर से नीचे तक उसे ग़ौर से देखा। उम्र कोई साठ के आसपास की होगी। दुबला पतला शरीर, लेकिन चेहरे पर ताज़गी। जाने मुझे भी क्या सूझी..... मैंने परिहास करने की दृष्टि से उससे पूछा 'बाबा, अगर तुम यह बता दो कि मेरी जेब में कितने पैसे हैं .... तो सब पैसे तुमको दे दूंगा'।

बाबा ने अपनी पैनी निगाहों से मुझे देखा। उसे इस समय परिहास करना शायद अच्छा नहीं लग रहा था। उसे लगा कि उसकी जैसे परीक्षा ली जा रही है। उसने आंखें बंद करलीं और वहीं एक पट्टे पर बैठ गया। कुछ देर तक वह यूं ही चुप बैठा रहा और फिर अपने हाथों की अंगुलियों से हिसाब लगाता रहा। थोड़ी देर बाद वह उठा और बोला 'बच्चा, तेरी जेब में पांच आने और तीन पैसे हैं।' मैंने तुरन्त अपनी जेब में रखे पैसे बाहर निकाले और गिने। मेरे आश्चर्य का ठिकाना ना रहा। वास्तव में वे पांच आने और तीन पैसे ही थे।

'कमाल हो गया बाबा! बिल्कुल सही बताया ..... मेरे पास इतने ही पैसे हैं' कहकर मैंने सारे पैसे उन्हें देने चाहे तो उन्होंने इन्कार कर दिया।

'नहीं बच्चे, अभी तो केवल चार आने काफी होंगे।'

चार आने लेकर वह पास की दुकान पर चला गया और कुछ खाने की चीज़ें खरीदने लगा।

मुझसे रहा नहीं गया। मैं अब भी चकित था। फिर उसके पास चला गया।

'बाबा! क्या आपको और भी विद्याएं आती हैं?'

'हां, मैं रमल विद्या जानता हूं और किसी का भी भविष्य बता सकता हूं।'

'तो ... मेरा भविष्य बताओ।'

साधु वहीं अपना झोला रखकर एक बेंच पर बैठ गया। अपने झोले से उसने कुछ पासे निकाले और रह रह कर उन्हें अपने पास ही फेंकता और कुछ नोट करता जाता। कुछ देर तक ऐसे ही करते रहने के बाद उसने मेरी ओर देखा और कहा 'जा, भगवान का आसरा ले ..... सब मंगल होगा।' .... और उसने मुझे एक कागज़ का टुकड़ा दिया।

'इसमें मैंने तारीख़ लिख दी है– इसके बाद से देखना, तेरा भाग्योदय होगा.... एक दो दिन का फर्क हो सकता है।' कहते हुए उसने अपना सामान उठाया और वहां से चला गया। उसके जाने के बाद मैंने वह परचा पढ़ा और यूं ही जेब में डाल लिया।

(बाद में मुझे लगा कितना इत्तेफ़ाक है......यह वही तारीख थी, जिस दिन मैंने संन्यास ग्रहण किया था।)

....

4.

़वक्त, अपनी किताब के सफ़े लगातार पलटे जा रहा था। इतिहास की करवटों में ना जाने कितनी कहानियां सिमटती जा रही थीं। हवा में जोश छाया हुआ था। आदमी की सोच बदल गई थी। मुझे भी लगता था मेरा किताबी ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। इससे इतर भी मुझे कुछ करना होगा अन्यथा जीवन बेकार होता जायेगा। मुझे लगता था मैं केवल बाबू बनने के लिए ही तो आया नहीं हूं। मेरा देश स्वतंत्र तक नहीं है। गुलामों को अंग्रेज और अंग्रेजियत से खौफ खाये लोग, कीड़े मकोड़ों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। मेरे भीतर की कन्दराओं से जैसे रह रह कर एक आवाज़ गूंजती रहती थी "उठ ..... खड़ा हो .... तू आम आदमी नहीं है ..... और तुझे ख़ास बनने के लिए ख़ास काम करने ही होंगे"। आवाज़ से मेरा उत्साह दुगना हो जाता। मुझे लगता यह एक आवाज़ नहीं, आदेश है जो मुझे बाकी सबसे अलग करता है। मुझे कई बार लगता मेरे आसपास कितने लोग हैं, जिनमें जोश है, समर्पण है, पर बढ़ने के लिए उनके पास राह नहीं है। एक नेतृत्व चाहिए जो उनके साथ, उनके आगे चले। सब के सब अनुसरण करने को तो तैयार हैं, लेकिन अगुवा बनने की हिम्मत उन में नहीं है। उन्हें उनकी पहचान देने वाला कोई तो हो।

संयोगवश उन्हीं दिनों गया शहर में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक आयोजित की गई। वातावरण के मुताबिक अनेक उत्साही युवक ज़ोर शोर से उसकी तैयारी में लगे हुए थे। मैं भी अपने कुछ मित्रों के साथ समारोह में पहुंच गया। पूरे दिन मैं सारी गतिविधियों को बारीकी से देखता रहा। मुझे लगा हर वक्त का अपना अलग विचार है। अपनी अलग शैली है। किसी को भी देश की

और उन देशभक्तें की, जो जेलों में ठूंस दिए गये हैं, परवाह नहीं। लोग ऊल जुलूल प्रस्ताव रख रहे हैं और उन्हें सर्व सम्मति से पारित भी किया जा रहा है– लेकिन एक ने भी इस विषय पर विचार तक प्रगट नहीं किया– प्रस्ताव की बात तो दूर रही उस पर चिंता तक व्यक्त करने की किसी को फुरसत नहीं है। मैं बड़े सोच में पड़ गया। मुझे लगा मैं समय की मांग के अनुसार अगर कार्य नहीं करूंगा, तो ऐसा अवसर फिर शायद ही मिले। मैंने तुरन्त एक पर्ची सभापति के पास भिजवायी और अपने विचार अभिव्यक्ति के लिए समय मांगा। ऐसी पर्चियां कई लोगों ने भेजी थीं और अब भी भेजी जा रही थीं, लेकिन ईश्वर की कृपा कहिये, सभापति के हाथ में मेरी पर्ची आ गई और मेरा नाम मंच पर आने के लिए पुकारा गया।

लोगों को आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि एक पन्द्रह सोलह वर्ष का युवक मंच की ओर जा रहा है। पहले तो लोगों ने सोचा, कदाचित् कोई सेवक या कार्यकर्ता होगा, लेकिन जब उन्होंने देखा कि वह सीधे सभापति महोदय के समक्ष जाकर खड़ा हो गया, तो उन्हें विश्वास करना पड़ा कि यह बोलने आया है।

'क्या तुम्हारा ही नाम लालमणि है ?'

'हां, श्रीमान।'

'क्या तुम बोलना चाहते हो ?'

'हां, अगर आप अनुमति प्रदान करें'।

'ज़रूर, ज़रूर, तुम अपनी बात संक्षेप में कह सकते हो'।

अब क्या था, मैं धड़ धड़ाता माइक के सामने जाकर खड़ा हो गया। सभा में सन्नाटा छा गया।

'मेरे देशवासियों, मुझे लम्बा चौड़ा भाषण करना नहीं आता और ना ही मुझे राजनीति का कक्खा, गग्गा आता है। आप लोग, सब के सब, मुझसे उम्र में ही नहीं अनुभव और योग्यताओं में भी बहुत बड़े हैं ..... मैं आपको कोई सीख नहीं देना चाहता लेकिन इतना चाहता हूं कि .... हम सब अपनी निजी समस्याओं से

दूर हट कर ज़रा उन लोगों की भी सोचें जो जेलों में बंद हैं .... जिनके परिवार मुसीबतों से लड़ रहे हैं, ... जिन माताओं और बहनों की मांग का सिन्दूर विदेशी शासक पौंछने पर आमादा हैं, ... उनकी ओर भी देखें और सोचें कि क्या हम उनके लिए चार वाक्यों का एक प्रस्ताव तक पारित नहीं कर सकते .... सोचें हमारा यह प्रस्ताव ... उन्हें कितनी हिम्मत देगा .... कितनी राहत पहुंचाएगा। ... इसकी पूरी ज़िम्मेदारी मैं सभा के संचालकों पर छोड़ता हूं ... आपसे अनुरोध करता हूं अभी इसी वक्त पूर्ण बहुमत से इसे पारित करें .... अन्यथा इस कार्यक्रम में कम से कम मैं तो आपके साथ शामिल नहीं हूं।' इतना कहकर मैं सीधे मंच से उतर गया।

सुनने वालों को लगा, यह क्या हो गया। क्या कह गया यह बालक। इतनी कम उम्र का होने के बावजूद इतना बड़ा पाठ हमें पढ़ा गया। करतल ध्वनि से इस विषय पर एक प्रस्ताव तुरन्त पारित किया गया और सभी अखबारों के मुख पृष्ठ पर अगले दिन सविवरण छपा। मंच पर बैठे नेताओं को लगा, मुझ में एक शक्ति है, लोगों के रुख़ को बदलने की। आह्‌वान करने की। लोगों के दिलों को छूने की। सभा से जब चाहे अपने अनुसार बात मनवाने की । तुरन्त मुझे बुलाया गया और कहा कि "हम चाहते हैं, तुम्हारे जैसे युवक और अधिक ज़िम्मेदारियां अपने मजबूत कन्धों पर लें ।"

'मुझे, कोई आपत्ति नहीं, मैं सदैव इसके लिए तैयार हूं' ।

जल्दी ही मुझे कांग्रेस की गया शहर शाखा का सहायक मंत्री बना दिया गया।

एक बार तमगा लगाकर मुझे जो गर्व महसूस हुआ था, ठीक वैसी ही अनुभूति मुझे कांग्रेस का सहायक मंत्री बनकर हुई। मेरे साथी तो वैसे भी, मुझे सदा सहयोग करने को तैयार थे, मैं पार्टी के कार्यों में उत्साह से जुट गया।

मेरा तथा मेरे साथियों का एक राजनीतिक दल के लिए इतने उत्साह से कार्य करना, मेरे स्कूल के पदाधिकारियों को अच्छा नहीं लग रहा था। उन्हें लगता था इसके कारण, अंग्रेज जिलाधिकारियों की नाराज़गी का शिकार होना पड़ सकता है। वे सोच रहे थे हमारी गतिविधियों पर किसी तरह रोक लगा दें। इसी बीच उन्हें एक अवसर मिल ही गया। स्कूल के कुछ विद्यार्थियों ने स्कूल में

फहरा रहा यूनियन जैक उतार दिया और उसके स्थान पर तिरंगा लहरा दिया। इस मामले में हालांकि मेरा तथा मेरे साथियों का कोई हाथ नहीं था और ना ही इस तरह की हमें पार्टी से कोई हिदायत ही मिली थी। फिर भी स्कूल के अधिकारियों ने मेरे खिलाफ़ जिला अधिकारियों को शिकायत कर ही दी। अंग्रेजों की नज़र में यह एक ऐसा जुर्म था जिसे बर्दाश्त नहीं किया जा सकता था। अब मेरे पीछे पुलिस पड़ गई। इत्तेफ़ाक से उन दिनों स्कूल बंद हो गया था और छुट्टियां हो गई थीं। मैं अपने गांव आ गया था। ढूंढते ढूंढ़ते आखिरकार दो सिपाही मेरे गांव में हमारे घर पर आ धमके। मैं उस वक्त अपने मकान के बाहर ही खड़ा था। उन्होंने आते ही मुझ से पूछा–

'क्या लालमणि यहीं रहता है?'

अब मैं समझ गया कि उन्हें लालमणि की खोज है, लेकिन वे लालमणि को पहचानते नहीं हैं। यह भी हो सकता है कि उन्हें लगता होगा कि यह पन्द्रह साल का दुबला पतला ग्रामीण लड़का लालमणि कैसे हो सकता है। वह तो जरूर कोई शातिर सा दिखने वाला बलिष्ठ व्यक्ति होगा, जो अंग्रेजी राज में अंग्रेजों का यूनियन जैक उतार कर किसी सार्वजनिक भवन में तिरंगा फहराने की हिम्मत कर सका। जब मैं समझ गया कि इन्होंने मुझे पहचाना नहीं है तो मैं भी सावधान हो गया।

'हां, रहता तो यहीं है।'

'क्या, वह भीतर है?'

'देखता हूं .... अगर हो तो बुलाऊं?' मैंने अभिनय करते हुए कहा।

'हां, बुलाओ उसे' उन्होंने कहा और पास ही छांह में बिछी खाट पर वे दोनों बैठ गये।

मैं भीतर गया। घर पर और कोई नहीं था। मैया और भाभी पास के मकान में हो रहे कीर्तन में गये हुए थे। मैंने अपने चेहरे पर इधर उधर थोड़ी मिट्टी लगाई और एक तौलिया कमर में खौंसते हुए बाहर आ गया।

'अभी आ रहा है' मैंने उनसे कहा और ऐसे बाहर निकल आया जैसे किसी ज़रूरी काम से जा रहा हूं। वे दोनों थोड़ी देर तक तो इन्तज़ार करते हुए बाहर बैठे रहे लेकिन बाद में उन्हें शक हो गया। वे दोनों भीतर गये और लालमणि को तलाशने लगे लेकिन वह होता तो मिलता ना। कोई दूसरा होता तो उससे पूछते भी, लेकिन घर में तो कोई नहीं था। पड़ौस की एक बुढ़िया से उन्होंने पूछा 'लालमणि कहां है?'

बुढ़िया बेचारी कान से बहरी थी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। इस पर बड़बड़ाते हुए वे दोनों वापिस चले तो गये लेकिन कह गये कि 'फिर आवेंगे'।

अब मेरा घर लौटना सही नहीं था। हो सकता है कभी भी आकर वे मुझे पकड़कर ले जावें। मैं अपने घर से सीधे अपने एक मित्र के यहां पहुंच गया और बीमारी का बहाना बना कर रात भर वहीं सोता रहा। सुबह एक आम सभा का आयोजन था और उसमें मुझे भाषण देना था। कुछ और लोग भी वक्त के रूप में आने वाले थे। इतना निश्चित था कि अगर मैं भाषण देने पहुंचता हूं तो तुरन्त गिरफ़्तार कर लिया जाऊंगा। मुश्किल यही थी कि मैं चाहता था मुझे भाषण के बाद पकड़ा जाए और पुलिस चाहती थी कि पहले से ही पकड़ लें ताकि भाषण ही ना हो सके। सभा के एक घंटा पहले से ही पुलिस बल वहां तैनात कर दिया गया और मेरी खोजबीन शुरू कर दी गई। सभा का समय हो गया। दूसरे वक्त पहुंच गये, लेकिन मंच पर लालमणि नहीं था। सब लोग एक दूसरे का मुंह ताक रहे थे कि अचानक मुख्य अतिथि की टेबल के ऊपर का कपड़ा नीचे से हिला और टेबल के नीचे से निकल कर मैं सीधे माइक के पास जाकर खड़ा हो गया। मुझे अचानक अपने सामने पाकर इधर तो जनता की खुशी का ठिकाना नहीं था और उधर सभा के आयोजक चकित थे और चकित थे पुलिस वाले भी। मंच पर माइक के सामने खड़े लालमणि को पकड़ना भीड़ को उकसाना था। वे चुप खड़े सभा के समाप्त होने का इंतज़ार करते रहे।

जैसे कि आशंका थी, सभा की समाप्ति पर मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया और जैसा कि उन दिनों प्रायः होता रहता था, जाने कौन कौन से आरोप मुझ पर मढ़ दिये गये और तुरंत फुरंत छह महीने की सज़ा सुनाते हुए, मुझे गया शहर की जेल में ले जाने का हुक्म सुना दिया गया।

....

5.

जेल में मेरी मुलाकात अनेक राजनैतिक कैदियों से हुई। सब के सब किसी न किसी षड़यंत्र के शिकार होकर पकड़े गये थे। मैंने खूब गहराई से देखा, किसी के भी चेहरे पर कोई शिकन तक नहीं थी। कोई पछतावा नहीं। कोई शर्मिन्दगी नहीं थी। उनके विश्वास, उनके जुनून देखने लायक थे। मुझे लगा नियति ने कैसा अच्छा अवसर मुझे दे दिया है। मुझे लगता था अगर ऐसा नहीं हो पाता, तो कितने मूल्यवान अनुभवों से मैं अलग पड़ा रहता। यहीं मेरी मुलाकात कुछ क्रांतिकारियों से भी हो गई। ये जोशीले युवक लुक छिपकर बम बनाते थे और अपने साथियों को मुहैय्या कराते थे। उनकी कार्य शैली, उनका उद्देश्य और त्वरित गति से अपने ठिकाने बदलते जाने का अन्दाज़ मुझे बहुत दिलचस्प और रोमांचक लगा। बाहर निकलने पर उन्होंने मुझे बम बनाने की विधि समझाने और अपने दल में शामिल करने की मंशा जतायी तो मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। मुझे उन जैसे लोगों की ही तलाश थी और कदाचित् उन्हें मेरे जैसे समर्पित व्यक्ति की। उनके रोमांचक किस्से सुनने और भविष्य की योजनाएं बनाने में ही सज़ा की अवधि गुजर गई।

गया शहर में इन क्रांतिकारियों ने चार कोनों पर चार मकान किराये पर

ले रखे थे। बारी बारी से वे इनसे अपनी गतिविधियां चालू रखते रहते थे। मेरा चूंकि अंग्रेजी, हिन्दी और बांग्ला भाषा पर पूर्ण और समान अधिकार था, लिहाज़ा उन्होंने मुझे जनता के नाम सन्देश छापने का कार्य सौंप दिया। अपनी ओजस्वी भाषा में, मैं जनता के नाम क्रांतिकारी सन्देश लिखता और फिर छोटी सी हाथ से चलने वाली साईक्लोस्टाईल मशीन पर उसे छापता और फिर उसे शहर के विभिन्न इलाकों में चस्पा करने के लिए, कुछ लोगों के हवाले कर देता। सुबह होते ही लोगों को अपने मकानों, दुकानों और कार्यालयों की दीवारों पर वे परचे चिपके हुए मिलते और इन्हें पढ़कर सब लोग जोश से भर जाते। जल्दी ही इन परचों ने शहर में जैसे भूकम्प ला दिया। अधिकारी एड़ी से चोटी तक का ज़ोर लगाकर इन परचों के पीछे काम करने वालों को पकड़ने में लग गये।

मेरे साथ, एक छोटी सी उम्र का लड़का और एक बूढ़ा रसोइया काम करते थे। हम लोग रात के अंधेरे में मशीन चलाते और एक बोरे में छपे हुए परचों को भरकर, तय स्थान पर छोड़ आते जहां से कुछ लोग उन्हें विभिन्न स्थानों पर चस्पा करने के लिए लेकर चले जाते। काम खत्म करने के बाद हम मशीन को घास फूस से भरे एक गोदाम में छुपा देते और मकान से गायब हो जाते।

करीब दो महिनों तक हमारा काम चलता रहा और साथ में चलता रहा पुलिस से आंख मिचौली का खेल भी। हम खुश थे कि हमारी योजना सही चल रही है। एक रात परचे छाप चुकने के बाद मैं यूं ही थोड़ी से हवा खोरी के लिए छत पर चला आया। मैं छत पर घूम रहा था कि मुझे लगा घर के बाहर चार दीवारी के गेट पर कोई खड़ा है और मुझे देखकर अपने को छुपाने का प्रयास कर रहा है। उसके हाथ में टॉर्च भी दिखाई दी। अब मुझे विश्वास हो गया कि हम घेर लिए गये हैं। मैं तुरंत नीचे दौड़ा। लाईटें बुझायीं और जितने भी छपे परचे थे, मैंने एक बोरे में भरे और बूढ़े रसोइये से कहा 'तुम पिछली ओर खुलने वाली खिड़की से कूदो, हम यह बोरा छत से नीचे गिरा देते हैं। इसे लेकर तुम जितनी दूर दौड़ सको दौड़ो और फिर एक स्थान पर कहीं छुपा दो।' उधर छापने की मशीन को तुरंत फुरंत हमने वापिस घास फूस वाले गोदाम में रख कर अच्छी तरह से ढक दिया। स्याही तथा अन्य सामान भी हमने घास फूस के भीतर ही छुपा दिया। हम यह सब करके अपने बिछौनों पर सोने का उपक्रम कर ही रहे थे कि दरवाज़े पर थाप सुनाई दी। कुछ देर तक हम जानबूझकर इसकी अनसुनी करते रहे। जब थाप तेज होने लगी तो जैसे हम गहरी नींद से उठे हों, वैसा अभिनय करते हुए मैंने दरवाज़ा खोला।

‘कहिये! इतनी रात को यहां आने का मतलब?’

‘रास्ते से हटो, हमें तलाशी लेनी है’ एक आदमी ने कहा।

‘क्यों .... और आप हैं कौन? ’ उनकी वर्दी पुलिस की नहीं थी और हमें किसी तरह बातों में उलझा कर समय गुज़ारना था ताकि हमारा बूढ़ा रसोइया, जितनी दूर हो सके जा सके।

‘यह सब बाद में बताएंगे ... पहले रास्ते से हटो’ इस बार उस व्यत्ति ने मुझे धक्का भी देना चाहा।

‘अरे, यह तो सरासर बेइन्साफ़ी है.... एक शरीफ़ के घर में घुसने वाले... आप लोग.... अपना नाम व काम भी नहीं बता रहे और ..मुझसे कहते हैं हट जाओ।’ मेरी बात का उन पर कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने सचमुच मुझे एक तरफ हटा दिया और भीतर घुस गये। कमरे में ज़ीरो वॉट के बल्ब के अतिरिक्त रोशनी का कोई साधन नहीं था। बल्ब भी इतना पुराना हो गया था कि उस पर जमी ग़र्त से उसकी रोशनी आधी रह गई थी। ख़ैर, वे अपने टॉर्चों से तलाशी लेते रहे। उन्हें इस बात का अहसास तो हो गया कि यहां अभी अभी कुछ कार्य किया जा रहा था।

‘बताओ, क्या हो रहा था यहां?’ एक अधिकारी ने पूछा।

‘सो रहे थे .. हम ... और क्या हो रहा था ...’ मैंने उत्तर दिया।

‘अच्छा! और यह स्याही क्यों फैली है फर्श पर?’

अचानक उसकी नज़र, फर्श पर फैली स्याही के कुछ छींटों पर पड़ गई।

‘मुझे ... मुझे क्या पता?’ मेरे मुंह से निकल गया।

‘अच्छा ? अभी पता लग जाएगा ....’ और यह कहते कहते वह घास फूस वाले गोदाम में भी घुस गया।

'क्या है यहां पर?'

'आप स्वयं देख लीजिये .... घास फूस रखा है।'

'किसके लिए?'

मैं चुप रहा।

'क्या इसे तुम लोग खाते हो?'

'नहीं, श्रीमान, हमारे पास भैंस थी, मर गई।'

'अच्छा। भैंस थी .... मर गई।' अबकी बार अधिकारी ने जाने क्यों अपना डण्डा घास के ढेर पर ज़ोर से मारा और मुझे जैसी आशंका थी, वही हुआ। डण्डा मशीन पर जैसे ही पड़ा, ठन्न की आवाज़ हुई। बिल्कुल तय था कि अधिकारी अब घास हटवाएगा, लेकिन उसी समय उसका एक सहायक दौड़ता हुआ आया।

'साहब इधर देखिए ....'

अधिकारी उधर दौड़ गया। सहायक ने पीछे की तरफ खुली खिड़की की ओर इशारा किया।

'ज़रूर यहीं से कूदकर इसका साथी भाग गया है।'

अधिकारी को भी विश्वास हो गया कि मेरे साथ कोई दूसरा साथी भी था।

'बताओ, कौन था तुम्हारे साथ?'

'कोई भी तो नहीं, साहब। मेरे साथ जो है वह यह रहा' मैंने अपने साथ खड़े लड़के की ओर इशारा कर दिया।

'नहीं, इसके अलावा, जो खिड़की से कूद कर भागा है।'

मेरे मना करने का उस पर कोई असर नहीं हुआ और वह मुझे गिरफ़्तार करके ले गया। लड़के को कम उम्र का मानते हुए उसने उसे एक धौल जमायी और उससे भाग जाने को कह दिया। फिर मुझे छह महीने के कारावास की सज़ा सुना दी गई। इस बार भी गया की वही जेल थी, लेकिन साथी दूसरे थे। माहौल भी भिन्न था। अधिकांश राजनैतिक कैदी अपना ज़्यादातर समय, देश भक्ति के गीत गाने, किस्से सुनाने और धार्मिक चर्चाओं में बिताया करते थे। मैंने वहां जाकर शाम को चार बजे नियमित रूप से रामायण पाठ का सिलसिला शुरू कर दिया। मेरे गाने का अन्दाज़ सबको पसन्द आ रहा था। पाठ के समय बहुत सारे कैदी इकठ्ठा हो जाया करते थे और पूरी तन्मयता से सुनते। धीरे धीरे पूरे जेल के कैदियों का मैं चहेता बन गया।

जेल के अधिकारियों को तमाम कैदियों द्वारा, इतनी तल्लीनता से मेरे पास आकर इतनी देकर तक बैठना और रामायण सुनना और इस कारण बढ़ते मेरे प्रभाव को बर्दाश्त करना मुश्किल हो रहा था। उन्होंने रामायण पढ़ने पर पाबन्दी लगा दी। इसे भला वे लोग कहां मानने वाले थे। उन्होंने पहले तो इसका विरोध किया, लेकिन बाद में पाठ जारी रखने का निर्णय लिया।

जेल का जेलर एक आइरिश अंग्रेज था और अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात था। उसे ज्यों ही पता लगा कि आदेश के बावजूद रामायण पाठ चल रहा है और मैं उसका पाठ करता हूं तो वह आग बबूला हो गया और बोला 'अब जब भी पाठ हो मुझे बताओ।'

पाठ तो नियमित रूप से जैसे हो रहा था वैसे ही उस दिन भी निश्चित समय पर शुरू हो गया। सभी कैदी अपने अपने स्थानों पर आकर बैठ गये। थोड़ी ही देर में जेलर को खबर मिल गई और वह अपने फौजी बूट दनदनाता हुआ अपने कुछ साथियों सहित आ धमका। पहले तो उसने सोचा कि उसके आने से ही सब घबरा जावेंगे और पाठ बंद करके भाग जावेंगे, लेकिन जब उसने देखा कि ऐसा कुछ नहीं हुआ और सब ज्यों के त्यों बैठे हैं और अपना पाठ जारी किये हुए हैं तो उसका गुस्सा सातवें आसमान पर जा पहुंचा। उसे और तो कुछ सूझा नहीं, मुझ दुबले पतले को शिखा से पकड़ कर उठाया और ज़ोर से ज़मीन पर दे मारा। जाते जाते वो यह आदेश भी दे गया कि मुझे वार्ड से बाहर नहीं जाने दिया जाए। इतना ही होता तो बहुत था, लेकिन जाते जाते उसने मेरे परिचय पत्र पर यह भी लिख दिया कि यह 'नोटोरियस'(कुख्यात) है और इसके साथ कोई

रियायत नहीं बरती जाए । साथ ही जब भी अवसर मिले इसे दण्डित भी किया जाए। जेलर के विषय में यह भी मशहूर था कि वह इतना कड़ा दण्ड देता था कि कभी कभी तो कैदी मर ही जाता था। मरने पर कैदी के कार्ड पर लिख दिया जाता था कि ''बीमारी से मर गया'' ।

कुछ दिन ऐसे ही निकल गये लेकिन अचानक एक दिन जेल में एक और नियम की घोषणा की गई। जब भी जेलर साहब कैदियों का निरीक्षण करने आवें, जेल के सारे कैदी एक पंक्ति में खड़े हो जावें। जेलर के नज़दीक आने पर अपने दोनों हाथ, ऊपर की ओर उठाते हुए सिर के पीछे क्रॉस की शक्ल में रख दें। राजनैतिक कारणों से बंदी बनाये गये लोगों को ऐसा करना सम्मानजनक नहीं लग रहा था। एक तो पहले से ही अन्य अपराधियों के साथ रखे जाने पर उन्हें एतराज़ था, दूसरे सबको समान रूप से पंक्तिबद्ध होकर जेलर के सामने हाथ बांध कर खड़े रहना उन्हें बिल्कुल ही पसंद नहीं आ रहा था। किसी की भी लेकिन हिम्मत नहीं हो रही थी कि कुछ करे। मुझे लगा यही अवसर है कि मैं ख़ास बनूं। जैसे ही जेलर साहब मेरे पास आये मैं वैसे ही सावधान की मुद्रा में खड़ा रहा। जेलर एक बार फिर लाल हो गया और अपने साथ आ रहे पांचों वार्डनों को उसने आदेश दिया कि वे अपना कार्य करें। उनका कार्य शुरू हो गया। वे दनादन मुझे पीटने लगे और तब तक पीटते रहे, जब तक वे थक नहीं गये। मैंने महसूस किया वार्डन दिखाने को तो मुझे ज़ोरों से पीट रहे थे, लेकिन वास्तव में वे ऐसा अभिनय ही कर रहे थे। चोट, जितनी धीमी हो सके, पहुंचा रहे थे। जेलर सामने खड़ा था, तो उन्हें आदेश का पालन तो करना ही था और उन्होंने किया।

थोड़ी देर बाद जेलर अपनी टीम के साथ चला गया और मेरे लिए कह गया कि "इसे एक कोठरी में बंद कर दिया जाए और पहनने को केवल 'टाट'– दिया जाए। 'टाट' भी साधारण नहीं, नारियल के रेशों से बना हुआ जो चमड़ी पर बुरी तरह चुभे।'

मैं इसके लिए तैयार था। मैं केवल कमर पर टाट को लपेट कर अपना समय निकालने लगा, लेकिन शायद ईश्वर को अभी और कड़ी परीक्षा लेनी थी। मुझे चेचक ने जकड़ लिया। पूरे शरीर पर फफोले निकल आये ओर तेज़ ज्वर हो गया। ऐसी स्थिति में भी मेरे पास पहनने को 'टाट' था। बिछाने को 'टाट' था और ओढ़ने को भी 'टाट' था। था। 'टाट' भी ऐसा जैसे कांटों से बनाया गया हो।

उन दिनों जेल में सहायक जेलर के पद पर एक बंगाली बाबू हुआ करते थे जो एक सहृदय व्यत्ति थे और मन ही मन राजनैतिक कैदियों के प्रति अच्छे विचार रखते थे। मैंने उनसे निवेदन किया कि मेरी बीमारी को देखते हुए मुझे 'टाट' के बदले अन्य वस्त्र पहनने को दिये जायें। उन्होंने स्वयं मेरी दशा देखी लेकिन वे उस वक्त कुछ नहीं बोले, चुपचाप चले गये। मुझे लगा शायद, कुछ कर पाने में वे अपने को असमर्थ समझते होंगे। बाद में मुझे पता लगा, मेरी बात को मनवाने के लिए वे चिकित्सक के पास गये, उससे मेरे लिए सिफारिश लिखवाई और फिर 'टाट' को हटाने का आदेश प्राप्त किया। मैं बाद में बहुत पछताया कि मैंने उनके लिए क्या क्या सोच लिया था। इतना ही नहीं 'टाट' के बदले वस्त्र बदलने की आड़ में उन्होंने मुझे कुछ और सुविधाएं भी दिलवादीं। मैं बहुत खुश हुआ, चलो कोई तो ऐसा मिला, जो इन्सानियत की हद में रहते हुए अंग्रेजों की नौकरी कर रहा था।

मेरी तबियत कुछ ठीक होने लगी तो मुझे फिर से यह भय सताने लगा कि अब मुझे फिर परेड में उपस्थित होना पड़ेगा और फिर जेलर का सामना करना होगा। मैंने मौका पाते ही बंगाली बाबू से प्रार्थना की कि वे मेरा तबादला अन्य किसी जेल में करवा दें। उन्होंने बताया ऐसा करना आसान नहीं है। वह तो स्वयं चाहते हैं कि मेरा तबादला कैम्प जेल में हो जाए। कैम्प जेल, प्राय: एक बड़े भवन में बनाई जाती थी और वहां सिर्फ राजनैतिक कैदी ही रखे जाते थे। इस जेल से तबादले के लिए तीन मुश्किल शर्तें उन्होंने मुझे बतायी। पहली तो यह कि जेलर यह प्रमाणित करें कि यह व्यक्ति वहां जाने के योग्य है। जेलर तो वैसे भी मुझसे चिढ़ा बैठा था। वह भला मुझे क्यों कर अनुमति प्रदान करेगा। दूसरे, कैदी के परिचय पत्र पर ओ.के. लिखा जाना। मेरे परिचय पत्र पर तो जेलर ने पहले से ही 'नोटोरियस' लिख रखा था। इससे तय था कि मेरा परिचय पत्र जैसे ही उसके सामने जावेगा वह तुरन्त उस पर ओ.के. लिखने से इन्कार कर देगा। तीसरी अड़चन उन्होंने बतायी कि जब ऐसे कैदियों को भेजने के लिए गाड़ी पर चढ़ाया जाता है तो जेलर स्वयं एक एक की शिनाख़्त करता है और तब चढ़ने देता है।

मेरे बहुत अनुरोध करने पर बंगाली बाबू कोशिश करने को तैयार हो गये।

ऐसे कैदियों की पंक्ति में उन्होंने मुझे भी खड़ा कर दिया जिन्हें ट्रान्सफर किया जाना था। जेलर स्वयं एक एक को देखते हुए आगे बढ़ रहा था। मुझे सबसे आखिर में खड़ा किया गया था। मैंने सोच रखा था, जैसे ही जेलर मेरे पास आयेगा, वह सीधे मेरे नाक पर घूंसा तो जड़ ही देगा या अपने जूते की ठोकर मारकर मुझे भागने को कह देगा। हमेशा की तरह मैंने इस बार भी शिव शंकर भोले नाथ को याद करना शुरू कर दिया। भगवान की कृपा कहिये या मेरे भाग्य का चमत्कार, जेलर जैसे ही मेरे पास पहुंचने को हुआ, रसोई घर में एक विस्फोट हुआ और सहायक जेलर को अपना कार्य सौंपते हुए जेलर तुरन्त उस तरफ दौड़ गया। सभी कैदी पहली परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित कर दिये गये। मैं भी उसमें शामिल था।

अब आयी दूसरी सीढ़ी। उन कैदियों के परिचय पत्र जेलर के पास भेजे जाने थे, जिन्हें यहां से ट्रान्सफर किया जाना था। मेरे जैसे व्यक्ति के कार्ड को, जिस पर 'नोटोरियस' लिखा हो भेजना, भेजने वाले के लिए भी खतरनाक था, क्योंकि वह कार्ड तो रिजेक्ट होता ही, भेजने वाले की नौकरी भी जा सकती थी। खैर बंगाली बाबू इसके लिए तैयार हो गये। उन्होंने सोच रखा था, अगर पूछा गया तो वे कह देंगे 'गलती से आ गया होगा'। ईश्वर की कृपा थी, कार्ड के ऊपर लिखे 'नोटोरियस' शब्द पर जाने कैसे जेलर की नज़र नहीं पड़ी और उसने अन्य कार्डो के साथ उस पर भी ओ.के. लिख दिया।

अब मुझे उम्मीद हो गई, मैं तीसरी बाधा भी पार कर जाऊंगा। वह दिन भी आ गया जब सबको एक पंक्ति में खड़ा कर दिया गया। सामने ही गाड़ी खड़ी थी। एक एक को जेलर सिर से पांव तक घूरता और गाड़ी की ओर धक्का मार देता था। धक्का खाते ही वह कैदी दौड़कर गाड़ी में बैठ जाता। कार्यक्रम चल ही रहा था कि जेलर को जाने क्या काम याद आ गया कि उसने बंगाली बाबू को बुलाया ओर शेष कैदियों की जांच करने को कहकर वह अपने दफ़्तर में लौट गया।

बंगाली बाबू ने कड़ाई से जांच करने का अभिनय करते हुए मुझे भी अन्य कैदियों के साथ गाड़ी में धकेल दिया। बस उस दिन के बाद से मैंने पलटकर नहीं देखा।

....

6.

कैम्प जेल का वातावरण बिल्कुल अलग किस्म का था। वहां तमाम राजनैतिक कैदी ही थे और अधिकांश समय भविष्य की योजनाएं बनाने में बिताया करते थे। मुझे भी चिंतन के लिए पर्याप्त समय मिल गया। मैंने निश्चित किया कि मैं अपनी पढ़ाई नहीं छोड़ूंगा, चाहे इसके लिए मुझे कुछ भी क्यों न करना पड़े। जेल में भी जैसे ही समय मिलता मैं पढ़ने का मौका हाथ से जाने नहीं देता था। मुझे लगा राजनैतिक लड़ाई के साथ साथ सामाजिक सेवा करना भी अत्यंत ज़रूरी है। मेरा विश्वास था कि हमारा पिछड़ापन ही मुख्य रूप से हमारी गुलामी का कारण है। जेल से निकलकर मैं सीधे कलकत्ते आ गया। वहां प्राईवेट विद्यार्थी के रूप में मैंने परीक्षा देने की तैयारी कर ली। अधिकांश समय मैं अध्ययन में बिताता। किसी भी पुस्तकालय में पहुंच जाता और जब तक उसे छान नहीं डालता, दूसरे की ओर नहीं जाता।

कलकत्ता महानगर था। वहां गरीबी की पराकाष्ठा भी देखी और अमीरी की हद भी। एक सत्संग भवन में एक दिन मैंने देखा एक संत पुरूष अपना प्रवचन दिया करते हैं। बहुत लोग दत्तचित्त होकर उन्हें सुनते रहते थे। शुरू में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं हुई। हां, मैंने देखा भवन के बाहर कुछ कुष्ठ रोगी आकर बैठ जाते थे और आने जाने वाले लोग उन्हें कुछ पैसे दे दिया करते थे। मैंने सोचा मैं भी अगर उनकी कुछ सहायता कर सकूं तो कितना अच्छा हो। मुझे और तो कोई उपाय सूझा नहीं सिवाय इसके कि मैं भी एक शॉल ओढ़कर उनके पास बैठ गया। मेरे ऊपर भी लोग पैसा डालने लगे। जितने पैसे मुझे मिलते उन्हें मैं किसी वृद्ध और असहाय व्यक्ति को देकर चला जाता। कुछ दिन तो ऐसे ही चलता रहा। बाद में मुझे प्रेरणा हुई कि मैं भवन के भीतर जाकर संत पुरूष का प्रवचन सुनूं। पहली बार जब मैं उन्हें सुनने गया तो उन्होंने बताया कि ..... ईश्वर भक्ति की क्या महिमा है। उन्होंने दावा किया कि सच्चे भक्त को ईश्वर के साक्षात् दर्शन कराने में वे सहायता करेंगे। मेरी रूचि बढ़ी। अब मैं नियमित रूप से वहां जाने लगा। सीधे सादे इस संत पुरूष की बातों में मुझे दम नज़र आया। उनके द्वारा बताई पुस्तकें भी मैंने पढ़ डाली। धीरे धीरे मेरे नियमित रूप से आने की खबर उन तक भी पहुंच गई। उन्हें किसी ने यह भी बता दिया कि कैसे मैं कुष्ठ रोगियों के पास बैठकर उनके लिए पैसे इकट्ठा किया करता हूं। एक दिन हिम्मत करके मैं उनसे मिलने पहुंच गया।

वे बड़े प्यार से मुझसे मिले। मेरी पूरी कहानी सुनकर वे चिंतित हो गये। उन्होंने मुझे भक्ति के बड़े सरल तरीके बताये और पूर्ण समर्पण करने की सलाह दी । उस दिन तो मैं चुपचाप लौट आया लेकिन बाद में मुझे लगा उन्होंने मुझसे पूर्ण समर्पण की जो बातें कहीं उनका मतलब तो यह है कि मैं सांसारिक जगत् को छोड़कर संन्यास ले लूं। हो सकता है यह केवल मेरी सोच ही हो। मेरी समझ में इससे बेहतर कोई उपाय नहीं था। घर परिवार से मैं वैसे ही कट चुका था। बावजूद इसके मैया से अब भी एक तार जुड़ा था। मन का। भावनाओं का और इसे मैं चाहूं तो भी मेरे लिए तोड़ना मुश्किल था। मैंने अपना निर्णय अपने भाई को बताया। सुनते ही, स्वाभाविक था वह एकदम क्रोधित हो गए और मैया का जो हाल होगा, उसके बारे में सोचने को कहने लगे। उन्होंने अपनी बात के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किये। मैं लेकिन कहां मानने वाला था। इसी उधेड़बुन में कई दिन निकल गए। मुझे भी दूसरा कोई रास्ता नज़र नहीं आया।

मेरा निश्चय पक्का ही रहा और एक निश्चित तिथि पर बिल्कुल साधारण तरीके से मैंने आखिरकार संन्यास धर्म ग्रहण कर ही लिया। अब मेरा नाम, मेरा काम, मेरा परिवार, मेरा गांव, मेरा समाज– कुछ भी नहीं था। मेरा कहने को कुछ भी नहीं रह गया था। मैं सबका हो गया था। पिछले जीवन से मैं कट तो गया, लेकिन भविष्य तो सवाल बनकर मुंह बाये सामने खड़ा था। संत महाराज के सम्पर्क में घंटों बैठे रहना बड़ा सुखकर प्रतीत होता था। न खाने की सुध रहती थी और न पीने की। वस्त्र के नाम पर एक गेरूआ कपड़ा ओढ़ लिया था और दूसरा बदलने के लिए अपने पास रख लिया था। अब ठान लिया था कि श्री कृष्ण को खोजना है। उनके साक्षात् दर्शन करने हैं। इसी धुन में अनेक विचार प्रश्न बनकर दिमाग में उठते और उनके उत्तर खोजने में हफ़्ते गुज़र जाते। जब भी मौका मिलता संत महाराज के पास मैं अपनी उलझन लेकर पहुंच जाता। उनकी सरल विचार धारा आम आदमी के हृदय में सीधे प्रवेश कर जाती थी। उनका कहने का ढंग इतना सटीक होता था कि आदमी के पास अविश्वास करने को कुछ शेष रहता ही नहीं था। मेरा मन भी अजीब था। एक सवाल के साथ जो उत्तर आता था वह भी सवाल ही होता था। मैं चलता था तो जैसे सवालों का जंगल मेरे पीछे लग जाता था और मैं जितना आगे बढ़ता उतना ही उलझता जाता था।

संत महाराज को लगा, मुझे निरूत्तर करना या मेरे सवालों के जवाब

देकर मुझे संतुष्ट करना, उनके लिए सम्भव नहीं है। उन्हें लग रहा था, मेरी जिज्ञासा साधारण नहीं है और मुझे इधर उधर की बातों से बहलाया नहीं जा सकता है। मेरी सोच बड़ी स्पष्ट थी। अध्ययन गहन् था। मेरा सवाल स्पष्ट था। मुझे तर्क संगत और सटीक जवाब चाहिए था। हार मानने वालों में तो वे भी नहीं थे लेकिन उनके पास हमेशा समयाभाव रहा करता था। कई कई बार वे चाहते हुए भी मुझ से मिलने का समय तक तय नहीं कर पाते थे। मेरे विचारों और तार्किक शक्ति का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और एक दिन उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि वे चाहते हैं मैं उनके विचारों को, उनकी टीकाओं को लिपिबद्ध करूं ताकि बाद में उसे पुस्तक का रूप दिया जा सके। निस्संदेह मेरे लिए बहुत सम्मान की बात थी। मुझे लगा इतने बड़े संत ने मुझे अपने इस महत्वपूर्ण कार्य के योग्य समझा।

'देखो, बेटा! मेरी इच्छा है गीता के संबंध में मेरी टीकाओं को कहीं एकांत में बैठकर तुम लिपिबद्ध करो .... मेरा विश्वास है तुम ऐसा कर सकते हो।'

'अगर आप ऐसा समझते हैं .... तो ज़रूर मैं पूरी कोशिश करूंगा कि यह कार्य करूं .... हालांकि आपके वैचारिक धरातल और मेरे वैचारिक धरातल में बहुत अंतर है... आपकी ऊंचाईयों तक मैं अभी पहुंच ही नहीं सका हूं ... फिर भी मैं कोई कसर बाकी नहीं छोड़ूंगा ...' मेरा ऐसा कहने पर वे पूर्ण संतुष्ट हो गये।

'मेरे मन में एक विचार और उठ रहा है ... मैं तुम्हारी जिज्ञासाओं को शांत करने में, मुझे लगता है, सफल नहीं हो पाया हूं ... मेरी इच्छा है तुम एक बार गोरखपुर चले जाओ .... और वहां जाकर भाईजी से मिलो।' उन्होंने मुझे बताया।

'मेरी इस तरह की कोई इच्छा नहीं है ..... मैं अपने प्रश्नों का उत्तर कभी न कभी पा ही जाऊंगा .... मुझे कहीं जाने की ज़रूरत महसूस नहीं होगी। ' मैंने उत्तर दिया।

मेरे जवाब से वे संतुष्ट नहीं हुए।

'बेटा, मैं जिन भाईजी की बात कर रहा हूं .... वे 'कल्याण' के संस्थापक–सम्पादक हैं और पहुंचे हुए गृहस्थ संत हैं .... उनसे मिलकर तुम्हें अफसोस नहीं होगा।'

अब मैं क्या कहता ... चुप रहा और मेरी चुप्पी को उन्होंने मेरी स्वीकृति समझ लिया।

'वहां तुम्हारे रहने की व्यवस्था भी हो जाएगी ... तुम निश्चिंत होकर एकांत में वहां चिंतन मनन के साथ साथ मेरा काम भी कर सकोगे।'

अब मेरे पास मना करने का कोई कारण नहीं था। यहां भी मेरा कौन सा स्थायी रहने का ठिकाना था।

'जब भी तुम जाना चाहो, मुझे बता देना... मैं व्यवस्था कर दूंगा।'

'मैं तो हमेशा तैयार रहता हूं ... आप अपनी सुविधा देख लें।' मैंने इतना ही कहा।

'ठीक है.... मैं करता हूं व्यवस्था।' कहकर वे चले गये।

मेरे यह कहने के पीछे कि मैं हमेशा तैयार रहता हूं, दो कारण थे। एक तो यह कि मेरा मानना था कि संन्यासी को अधिक दिनों तक एक स्थान पर नहीं रहना चाहिए –और दूसरा समेटने को मेरे पास एक गेरूआ वस्त्र और कमण्डल के साथ साथ पढ़ने को एक दो पुस्तकों के अलावा कुछ भी नहीं होता था। रूपयों पैसों को मैं हाथ लगाता नहीं था। सफ़र के समय रास्ते में मैं कुछ खाता था नहीं। बाकी सब मैंने ईश्वर पर छोड़ रखा था।

समय के रथ का पहिया अबाध गति से बढ़ता जा रहा था। मुझे लग रहा था, नासमझी में मैंने कितना वक्त बर्बाद कर दिया। ज्ञान का भण्डार अपार है। धर्म ग्रंथों के न पढ़ने से मनुष्य कितना अज्ञानी बना रहता है। अपने छोटे से संसार में, अपनी संकुचित विचारों के साथ जीते रहकर आदमी पूरी उम्र गुज़ार देता है और खाली हाथ आकर खाली हाथ ही चला जाता है। कोई निशान बाकी नहीं छोड़ता। मैंने तय कर रखा था, कम से कम मैं तो जीवन की इस लीक से हटकर चलूंगा ही .... चाहे इसके लिए मुझे कितनी भी तकलीफें उठानी पड़े ... कितने ही दुर्गम मार्गों पर चलना पड़े। कम से कम मेरे जाने के बाद, मुझे याद करने के लिए, मैं कुछ तो छोड़कर जाऊं.... पर क्या? ऐसा मैं चाहता था।

....

7.

आश्विन शुक्ला एकादशी का दिन था।

गोरखपुर रेलवे स्टेशन पर उतरा तो लगा हल्का सा ज्वर हो गया है। थकान भी महसूस हो रही थी। शहर को देखकर भी लगा शांत सा, सादा सा शहर है। गरीब ओर भोले भाले देहातियों का जमघट भी है। मुझे यह तो याद था कि भाईजी 'कल्याण' पत्रिका के संस्थापक—सम्पादक हैं और कुछ याद नहीं था। सोचा 'कल्याण' के कार्यालय ही चलना चाहिए।

'क्यों भाई, यहां से 'कल्याण' का कार्यालय कितनी दूर है?'

'यही कोई तीन मील' जवाब मिला।

सुनकर लगा, चलने से पहले थोड़ा विश्राम कर लूं तो अच्छा रहेगा। वहीं प्लेटफार्म पर नल से हाथ मुंह धोये और एक बैंच पर बैठ गया। गर्मियों के दिन थे। तेज धूप निकल आई थी। थोड़ा सुस्ताने के बाद स्टेशन से बाहर आ गया और 'कल्याण' के कार्यालय, जिसे लोग 'गीता प्रेस' के नाम से जानते थे, के लिए चल पड़ा।

सड़कों की हालत बड़ी खराब थी और संकरी गलियों से होकर रास्ता गुजरता था। धीरे धीरे वहां पहुंच ही गया।

'देखिये, मैं कलकत्ते से आया हूं .... मुझे भाईजी से मिलना है।' मैंने द्वार पर खड़े व्यक्ति से कहा। वह शायद वहां का ही एक कर्मचारी था। उसे, मुझे थकी हुई अवस्था में देखकर शायद दया आ गई। वहीं पड़ी एक कुरसी पर उसने मुझे बिठाया और कहाः–

'बाबा, भाईजी तो अभी यहां नहीं है .... वे तो यहां कभी कभी आते हैं... और अधिकांशतः 'गीता वाटिका' में ही रहते हैं।'

इतना सुनना था कि मेरी रही सही हिम्मत भी जवाब दे गई।

'हे, ईश्वर' मेरे मुंह से केवल इतना निकला।

'यह गीता वाटिका कहां है?' मैंने पूछा।

'यही कोई तीन साढ़े तीन मील दूर तो होगी ही' अब की बार मुझे जो जवाब मिला तो मैं सोच में पड़ गया। फिर इतनी ही दूर पैदल जाना पड़ेगा। इस तरह मुझे पस्त और सुस्ताते देख कर वहां के एक सज्जन को मेरी परेशानी समझ में आ गयी।

'आप थोड़ी देर आराम करलें, फिर आपको गीता वाटिका भेजने की व्यवस्था हम कर देते हैं।'

मैंने स्वीकृति में सिर हिला दिया और आंखें बंद करके बैठ गया। थोड़ी देर बार मैंने देखा, एक तांगा बाहर खड़ा है।

'मैं तो भैया, किसी ऐसी सवारी में बैठता नहीं.... और फिर....' मैं कह पाता इसके पहले ही सज्जन बोल उठेः—

'देखिये, आप बहुत थक गये मालूम होते हैं.... इसमें बैठने से आपको कोई परेशानी नहीं होगी.... रही बात इसके किराये की.... तो उसकी आप फिक्र मत करिये.... वह दे दिया जाएगा।'.... कर्मचारी हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। मेरे पास इन्कार करने का कोई कारण नहीं बचा था। मैं बैठ गया। फिर उन्हीं संकरी गलियों और टूटी फूटी सड़कों से गुज़रता हुआ तांगा एक बड़े से शांत दिखने वाले आश्रम के बाहर मुझे उतार गया।

बाहर से ही मुझे दिखाई दिया ... आश्रम के भीतर कोई समारोह हो रहा है। एक बड़े से शामियाने के नीचे सब लोग इकठ्ठा हैं और वहीं पर बनाये गये मंच पर कोई धार्मिक कार्यक्रम चल रहा है।

गीता वाटिका एक विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ था। पवित्र वातावरण और सुगंधित पुष्पों और फलों से लदे उपवन के स्वरूप में विद्यमान, इस क्षेत्र की छटा दूर से ही निराली सी दिख रही थी। तांगे में आकर मैंने अच्छा किया। इतनी दूर पैदल मुझे चला भी नहीं जाता। द्वार पर एक चौकीदार खड़ा था, लेकिन सभी बेरोकटोक आ जा रहे थे।

जाने क्यों द्वार पर ही मेरे पांव रुक गये। मैं, आंखें बंद किए हुए चुपचाप खड़ा हो गया। दो दिन से भूख प्यास ने मेरी हालत दयनीय बना दी थी। तब ही मैंने देखा एक सज्जन हाथ जोड़कर मेरे सामने खड़े है। 'मुझे हनुमान प्रसाद जी से मिलना है... मैं कलकत्ते से आ रहा हूं .... मेरे पास उनके लिए एक पत्र भी है।' मेरा यह कहना था कि सज्जन ने मुस्कुराकर मुझे भीतर आने के लिए कहा तो मैं ठिठक गया। जाने क्यों मुझे संकोच हो रहा था कि इस अवस्था में हनुमान प्रसाद जी से मिलना उचित होगा या नहीं। वह सज्जन मेरी परेशानी ताड़ गये।

'आप तनिक ठहरिये .... वे अभी मंच पर एक कार्यक्रम में व्यस्त हैं .... जैसे ही मौका मिलेगा.... मैं उन्हें आपके बारे में बताता हूं।'

उस व्यक्ति ने मुझे भीतर चल कर विश्राम करने को कहा। मैंने उसे मना कर दिया और द्वार पर ही एक पेड़ की ठण्डी छांह में खड़ा रहना स्वीकार कर लिया। सज्जन बेचारे पहले तो सकुचाये लेकिन फिर अन्य उपाय न देख भीतर चले गये।

थोड़ी देर मैं यूँ ही खड़ा रहा। जल्दी ही मैंने देखा सफेद कुरता और सफेद धोती पहने एक सज्जन नंगे पांव ही मेरी तरफ दौड़े चले आ रहे हैं। दो कदम मैं भी आगे बढ़ा। मुझे विश्वास हो गया यही हनुमान प्रसाद जी हैं।

सूर्य के समान तेजस्वी एक सज्जन अब मेरे सामने खड़े थे। ज्ञान और भक्ति का दिव्य अदृश्य कलश जैसे उनके हाथ में था और जो भी उनके सामने आ रहा था वे दोनों हाथों से लुटाये जा रहे थे। मैं थका हारा, ज्ञान का पिपासु, झोली फैलाकर उनके सामने खड़ा था, एकटक उनकी आंखों में देखता। तुरंत उन्होंने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिये। साधारणतः मैं किसी का स्पर्श नहीं करता और न किसी को करने देता था, लेकिन उनके हाथ को छिटकना मेरे वश में नहीं रह गया था। क्षण भर में मेरी सारी थकान दूर हो गई थी और मेरी आत्मा को लगा, जनम जनम से जैसे मैं इन्हीं की तलाश कर रहा था। उनकी आंखों से एक रसधारा प्रवाहित हो रही थी और मुझे अन्दर आत्मा तक भिगो रही थी। जाने क्यों मुझे लगा कि मेरे तमाम सवालों के जवाब मुझे मिल गये हैं। एक तरफ परम संतोष का भाव मुझे जकड़े जा रहा था तो दूसरी तरफ रोमांच का विचार मुझे झिंझोड़े जा रहा था।

भाई जी हाथ पकड़कर मुझे भीतर एक कक्ष में ले गये। मैंने उन्हें संत महाराज का पत्र दिया और अपने आने का प्रयोजन बताना चाहा लेकिन उन्होंने मुझे मना कर दिया। पत्र अपने पास रखते हुए उन्होंने कहा 'आप बहुत थक गये हैं .... सब बातें बाद में होंगी– पहले विश्राम करलें .... लगता है आपने कुछ खाया भी नहीं है .... शायद रास्ते में आप खाते पीते नहीं हैं ....।' पोद्दार जी जैसे सब जान गये थे।

'हां, आपकी बात सही है .... मैं स्नान करके ही कुछ जलपान ले सकूंगा।'

तुरन्त उन्होंने मेरे स्नान की व्यवस्था की और फिर एक कुटियानुमा कक्ष में मेरे रहने की व्यवस्था करदी। दो परिचारक लगातार मेरी सेवा में खड़े थे। स्नान ध्यान के बाद मैंने हल्का सा नाश्ता लिया और फिर विश्राम के लिए तख्त पर लेटा, तो पता ही नहीं लगा कब गहरी नींद ने मुझे घेर लिया। शायद दो ढाई घंटे मैं सोता रहा। दरवाज़े पर हल्की थाप से मेरी आंखे खुलीं। मैंने देखा एक सज्जन खड़े थे।

'आपने विश्राम कर लिया हो तो, भाईजी आप से मिलना चाहते हैं।'

'हां, हां, मैं तो तैयार हूं' उठते हुए मैंने अपना वस्त्र संभाला और चलने को तत्पर हो गया।

'नहीं, नहीं ... आपको कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है, भाईजी यहीं आना चाहते है।'

'जैसी उनकी मर्ज़ी' मैंने कहा और अपने आसन पर बैठ गया। वह सज्जन चले गये।

दुपहर ढल चुकी थी। सूरज डूबने को था। गरमी और उमस अब भी बरकरार थी, लेकिन रह रह कर बाहर के उपवन से सुगंधित हवाएं बदन को छू छू जाती थीं। पास ही कहीं अखण्ड कीर्तन चल रहा था और उसकी आवाज़ निरंतर मेरे कानों में गूंजती जाती थी।

थोड़ी देर बाद भाईजी आये। उनके साथ चार पांच व्यक्ति और भी थे। जिस कुटिया में मुझे ठहराया गया था, सादी और स्वच्छ थी और आकार में भी मध्यम दर्जे की कही जा सकती थी। भाईजी आकर मेरे पास ही आसन पर बैठ गये। एक बार फिर मुझे लगा एक दिव्य प्रकाश से मेरे आसपास का वातावरण जगमगा उठा है। मैं नेत्र बंद किये बैठा था, लेकिन भाईजी के पास आते ही .... पलकों के पार से भी जैसे एक चिन्मय आभा मुझे नहलाने लगी थी। मेरे दोनों हाथ नमस्कार करने के लिए उठ ही रहे थे कि फिर से भाईजी ने मेरे दोनों हाथों को पकड़ लिया।

'ऐसा मत करिये ... आप संन्यासी हैं और हमारे लिए पूज्य हैं .... ।'

'नहीं, नहीं,' अनायास मेरे मुंह से निकल गया। 'मुझ जैसे एक साधारण साधु को आप इतना सम्मान मत दीजिये .... मैं तो एक तुच्छ सा प्राणी हूं .... मेरी जिज्ञासाएं मुझे यहां खींच लाई हैं ... और संत महाराज की कृपा से आपके दर्शन हो गये हैं।'

'उन्होंने मुझे आपके बारे में सब लिख दिया है .... आप यहां आराम से रहिये.... यहां आपको किसी तरह की कोई तकलीफ नहीं होगी .... निश्चिंत होकर आप अपने ध्यान,अध्ययन और पूजा में लगे रहें.... कोई आपको बाधा नहीं पहुंचाएगा।' भाईजी ने इतना कहकर विनम्र भाव से मुझे हाथ जोड़ दिये.... जैसे वे निवेदन कर रहे हों।

'नहीं, नहीं, मेरा आशय यह कदापि नहीं था .... मुझे भला यहां क्या परेशानी हो सकती है?' मैंने कहा।

'देखिये, मेरे एक परिचित बहुत बीमार हैं .... उन्हें देखने के लिए मुझे आज रात्रि को बाहर जाना पड़ेगा .... और हो सकता है वहां मुझे तीन–चार दिन लग जायें– तब तक आप यहां रहिये– फिर मेरे लौटने पर विस्तार से बातें होगी।' उठते हुए उन्होंने एक बार फिर मेरे कंधे पर हाथ रखा और मुझसे अनुमति मांगी।

प्रत्युत्तर में मैंने उन्हें हाथ जोड़कर विदा कर दिया।

रात गहरा गई थी। मैं हालांकि दिन में दो ढाई घंटे सो लिया था, लेकिन फिर भी थकान पूरी तरह से मिटी नहीं थी। ज्वर के कारण भी कमजोरी का अनुभव हो रहा था। एक परिचर मुझसे रात्रि के भोजन के लिए पूछने आया तो मैंने उसे इन्कार कर दिया और कहा कि मैं दिन में केवल एक ही बार प्रसादी लिया करता हूं। परिचर प्रणाम करके चला गया। मेरे कानों में अखण्ड कीर्तन अब भी गूंज रहा था। शायद मेरी कुटिया कीर्तन स्थली से बहुत नजदीक ही थी। उस रात्रि को तो मैं थका था और ज्वर से पीड़ित था। अतः शोरगुल में भी सो गया।

....

8.

भाईजी को लौटने में पांच दिन लग गये। आते ही उन्होंने सबसे पहले मेरी कुशल क्षेम पूछी।

'कहिये, आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ?'

मैं क्या जवाब देता। चुप रहा। कष्ट था भी नहीं जो कहता। भाईजी जैसे मन की बात पढ़ लेते थे।

'मुझे लग रहा है– आपका निवास एकांत में नहीं है। आपकी एकाग्रता में निरंतर बाधा पहुंचती रहती है।'

इस बार मैं चुप रहा। वे सही कह रहे थे।

'कहिये, मेरी बात गलत है क्या?' भाईजी को अब भी मेरे उत्तर की चाह थी।

'हां, वो तो है।'

उस दिन तो भाईजी स्वयं थके थे और यात्रा करके आए थे। जल्दी ही लौट गये, लेकिन मेरे ठहरने के लिए अब की बार राप्ती नदी के किनारे के एक मंदिर के पास बनी कुटिया में व्यवस्था करने का आदेश दे गये। कुछ ही दिनों में मैं नयी कुटिया में आ गया।

यह कुटिया एकदम शांत स्थल पर अवस्थित थी। कोई नहीं आता था, यहां तक कि मंदिर में आने वाले लोग भी दूसरी ओर से ही निकल जाते थे। सामने ही नदी के किनारे दूर दूर तक फैली रेत थी और पसरा था एक गहरा सन्नाटा। नदी से टकराकर सांय सांय हवा बहती रहती थी। मंदिर का पुजारी कभी कभी आकर मुझे देख जाया करता था। वह मुझसे बहुत संकोच करता था और उसने कभी भी खुलकर मिलने या बात करने की कोशिश नहीं की। एक तय

फासला उसने कायम रखा। प्रायः मेरे लिए भोजन लेकर भाईजी स्वयं ही आया करते थे और मुझे खिलाने के बाद ही जाते थे। कई बार उनके व्यस्त होने पर कोई और व्यक्ति खाना लेकर आता और मेरी कुटिया में रख कर चला जाता था।

भाईजी से हो रही निरंतर मुलाकातों ने अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया था। गीता वाटिका में जैसे उन्होंने एक बृज मण्डल की स्थापना कर रखी थी और जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता था गोपी भाव में डूबता चला जाता था। मुझे नही मालूम शिवजी का अंध भक्त मैं, कैसे अपने चारों ओर केवल कृष्ण को और केवल कृष्ण को ही पा रहा था। मेरे ओंठ अब केवल 'राधा राधा' ही उच्चारण करते थे। मेरा सवाल भी राधा था और जवाब भी राधा। अनन्त आकाश को देखता तो लगता एक विशाल, राधा और कृष्ण का चित्र, नीले कैनवास पर खिंच गया है। हवाओं में केवल बांसुरी वादन होता रहता है। राप्ती नदी के जल में लहरों पर रास लीला होती दिखाई देती थी। समय का पता ही नहीं लगता, मैं किनारे की रेत पर पड़ा रहता। न खाने की सुध रहती और न पहनने की। भाईजी को मेरी इस स्थिति के विषय में जब बताया गया तो उन्होंने कुछ नहीं कहा केवल मुस्कुरा भर दिये।

'बाबा, अब राधा बाबा हो गये हैं' उनके बस यही शब्द थे।

सचमुच अब मुझे राधा बाबा के नाम से ही पुकारा जाने लगा। संन्यास धर्म के बाद वैसे भी मेरा पिछला सब कुछ पीछे छूट ही गया था। नाम मैं बदल नहीं पाया था और इस फ़िराक में था कि किसी गुरू के सम्पर्क में आने पर अपने आप नाम भी बदल लूंगा।

कलकत्ते के जिन संत महाराज ने मुझे यहां भेजा था, उनका यहां आना, किसी न किसी कारण टलता ही जा रहा था। उनके बग़ैर आये, मेरा लेखन कार्य शुरू हो भी नहीं सकता था। इसी बीच भाईजी का रतनगढ और बीकानेर जाने का कार्यक्रम बन गया। उन्होंने मुझसे भी आग्रह किया कि मैं भी उनके साथ चलूं। मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी और फिर इसी बहाने मैं उनका सानिध्य भी पाना चाहता था। हमारे साथ कुछ अन्य व्यक्ति भी चले। रतनगढ़ में हम एक विद्यालय के कार्यक्रम में शामिल होने आये थे। कार्यक्रम के बाद भाई जी का विचार कुछ दिन वहीं रहकर विश्राम करने का बन गया। प्रत्येक शाम को वहीं एक प्रांगण में उनका प्रवचन हुआ करता था। बड़े सीधे सादे शब्दों में, दिल को

छूने वाली शैली में वह प्रवचन सुनाया करते थे। लोग बड़े चाव से उन्हें सुनते। वे अपने पास ही मंच पर मुझे भी बिठा लिया करते थे। लोग देखते एक साधु नित्य उनके पास बैठा रहता है। उनकी उत्सुकता स्वाभाविक थी। एक दिन आखिर मेरे बारे में पूछ ही लिया गया। भाईजी ने जवाब में कुछ कहा तो नहीं लेकिन माइक मेरे सामने रखवा दिया और इशारा किया कि मैं अपना परिचय स्वयं दूं। भाईजी के आदेश का पालन तो मुझे करना ही था।

'संन्यासी के वेश में जिस व्यक्ति को आप कुछ दिनों से भाईजी के साथ देख रहे हैं .... वह और कोई नहीं, केवल एक विद्यार्थी है जिसे संत महाराज ने भाईजी के श्री चरणों में बैठकर श्री कृष्ण भक्ति के कुछ पाठ पढ़ने का अवसर प्रदान किया है। बस मेरा यही परिचय है और यही ध्येय है। भाईजी उस सूर्य के समान हैं जिसके प्रकाश से अनेक छोटे बड़े नक्षत्र जगमगाते रहते हैं। यह अकिंचन सा एक तुच्छ साधु भी अब अपने को प्रकाशित करके गौरवान्वित अनुभव कर रहा है। इसका श्रेय केवल भाईजी को है। मेरा अपना तो इसमें कोई श्रम नहीं है। मैं चाहता हूं कि वे जीवन भर पथ प्रदर्शक बने रहें .... मैं उनके पीछे पीछे चलता रहूं। मैं उनका शिष्यत्व पाकर धन्य हो गया।'

इतना कहकर मैंने फिर से माइक को भाईजी के सामने रखवा दिया।

'ऐसे गुरू बहुत कम होते हैं जिन्हें ऐसे विद्यार्थी .... ऐसे शिष्य मिलते हैं... इनका बड़प्पन है कि मुझ जैसे एक साधारण सेवक को वे इतने सम्मानीय स्थान पर बिठा रहे हैं। सेवा धर्म के जिस पथ पर मैं चल रहा हूं ... श्री कृष्ण की कृपा होगी तो .... बाबा भी अंतिम यात्रा तक मेरे साथ रहेंगे।'

तालियों की गड़गड़ाहट के साथ उस दिन सत्र का समापन हुआ। अनजाने ही उस दिन हम दोनों परस्पर एक दूसरे से गुंथ गये।

इसके बाद अगले दिन हम बीकानेर के लिए रवाना हो गये। बीकानेर में भाईजी का व्यस्त कार्यक्रम था। अनेक जगह उनके प्रवचन होने थे। कईयों से उनकी मुलाकात तय थी। गौरक्षा आन्दोलन के भाईजी प्रणेता थे। षोड्श गीतों का प्रचार भी उनका उद्देश्य था। स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने पर भी उनका ज़ोर रहता था। इन तमाम व्यस्तताओं के बावजूद वे मेरा पूरा ध्यान रखते थे। देखते रहते थे कि मुझे किसी भी तरह की

असुविधा ना हो। मुझे कई बार लगता था मैं भाईजी पर अतिरिक्त बोझ बन गया हूं। उनके पास वैसे भी ज़िम्मेदारियों की बड़ी लिस्ट है, उस पर मेरी चिंता करना.. .. मेरी व्यवस्था करना, उनकी लिस्ट में इज़ाफा ही करता था। मुझे संकोच होता था अपनी कोई आवश्यकता उन्हें बताने में, लेकिन प्रायः इसका अवसर ही वे नहीं देते थे। आगे से आगे मेरी फ़िक्र उन्हें रहती थी।

बीकानेर महाराजा के विश्वसनीय सहायक और हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान चिम्मन लाल जी गोस्वामी उन दिनों भाईजी के निरंतर सम्पर्क में बने हुए थे। यही कारण था कि उनके परिवार के अन्य सदस्य भी, प्रायः जहां हम ठहरे थे, आते जाते रहते थे। मेरा भी उनसे इसी लिए सम्पर्क बनता रहा। एक दिन अचानक उनके तीन भानजे मुझसे मिलने आ पहुंचे। सवेरे का वक्त था। मैं भाईजी के साथ उनके एक परिचित के यहां जाने को तैयार हो रहा था। उनके परिचित गम्भीर रूप से बीमार थे और चिकित्सकों ने जवाब दे दिया था।

तीनों बच्चे चुपचाप आकर मेरे सामने बैठ गये। सबसे बड़ा था नटवर, फिर मुकुन्द और फिर गोकर्ण।

'कहिये, कैसे आना हुआ।' मैंने पूछा। पहले तो कोई कुछ नहीं बोला, लेकिन बाद में मुकुन्द ही बोला।

'हम देखना चाहते थे कि मोडा साधु कैसे होते हैं?'

'मोडा साधु' मैंने आश्चर्य से पूछा। इस पर नटवर ने कहा 'मोडा' मतलब जिसके सिर के बाल साफ कर दिये गये हों।'

'अच्छा।' मुझे हंसी आ गई। अपने सिर पर हाथ फेरते हुए मैंने कहा 'तो फिर क्या देखा?'

तीनों चुप रहे। मैं जाने को तैयार होने लगा तो नटवर ने कहा 'एक बात पूछनी है।'

'पूछो' मैंने कहा।

'हमने सुना है भाईजी ... किसी को भी भगवान से मिला सकते हैं।'

'तो ?'

'आप उनसे कहो, हम भगवान से मिलना चाहते हैं' तीनों एक साथ बोले।

थोड़ी देर तो मैं चुप रहा, लेकिन मुझे लगा बच्चों को निराश तो नहीं किया जाना चाहिए। उनकी जिज्ञासा को शांत किया जाना ही चाहिए।

'ठीक है मैं उनसे बोल दूंगा .... लेकिन अगर उन्होंने कठिन तप करने को कहा तो?'

'हम कर लेंगे .... चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो।'

इस पर मैं चुप हो गया। तीनों ने उठकर मुझे प्रणाम किया और कमरे से बाहर निकल गये। वे बाहर तो चले गये लेकिन मेरे मन में एक सवाल छोड़ गये। अगर दुबारा वे आये और उन्होंने फिर से यही बात कही तो मैं क्या जवाब दूंगा। मैंने सोचा, समय मिलने पर, भाईजी से यह बात कहूंगा जरूर। मौका जल्दी ही मिल गया। परिचारक ने आकर सूचना दी कि बाहर कार में बैठे भाईजी, मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं तो तैयार था ही। चल पड़ा।

'अभी तीन बालक मेरे पास आये थे' मैंने कार में बैठे बैठे ही भाईजी को बताया कि कैसे उन्होंने भगवान से मिलने के लिए कठिन तप की बात भी स्वीकार करली है। भाईजी मुस्करा दिये।

'आप को मिले क्या श्री कृष्ण?' उन्होंने पूछा।

'मैं तो नित्य उनके दर्शन करता हूं .... और अभी भी मेरे सामने साक्षात् वही हैं' मेरा उत्तर था।

'यह सब विचारों का, सोच का और दृष्टि का खेल है। आप यहां कार में बैठे सफर करते हुए भी उन्हें देख सकते हैं और कुछ मंदिर में बैठे भी उन्हें, वहां

नहीं देख पाते। उनके समक्ष श्री कृष्ण होकर भी नहीं होते।' उन्होंने जवाब दिया।

मैं उनका संकेत समझ गया था। मेरे सवाल का भी उत्तर मुझे मिल गया था और मैंने सोच लिया था कि अबकी बार बालक आये तो मैं उनसे क्या कहूंगा। थोड़ी देर बार हमारा गंतव्य स्थल आ गया। तेज़ी से उतर कर भाईजी ने सड़क क्रॉस की और सामने के मकान के भीतर घुस गये। उनके पीछे पीछे ही घर के भीतर चले गये अन्य लोग भी। मैं धीरे से कार से उतर तो गया लेकिन मेरे पांव ठिठक गये। सामने ही मकान था, लेकिन जाने क्यों मुझे लग रहा था मेरी वहां अभी शायद आवश्यकता नहीं है। मेरे साथ ही श्याम नाम का एक बालक भी था। वह भी मेरे कारण वहीं रुक गया। उसे आश्चर्य हो रहा था, मरणासन्न व्यक्ति को देखने मैं भीतर क्यों नहीं जा रहा हूं। एकटक मेरी निगाहें उस मकान के द्वार पर टिकी रहीं।

अचानक भीतर से भाईजी तुरंत दौड़ते हुए वापिस आये और मेरा हाथ पकड़ लिया।

'मुझे मालूम था, आप जब तक मैं नहीं कहूंगा, गृहस्थ के घर नहीं आवेंगे. ... जल्दी जल्दी में मुझे ध्यान ही नहीं रहा।'

'नहीं, एक बात और भी है .... अभी अभी मैंने आपके पीछे पीछे श्री कृष्ण को भी प्रवेश करते देखा था।' अचानक मेरे मुंह से निकल गया। मेरे रुकने का कारण सबको पता चल गया और भाईजी, विस्फारित आंखों से मुझे घूरने लगे।

'अब आपका जाना, न जाना, बराबर है।' कहते हुए भाईजी वहीं मौन होकर खड़े हो गये। एक क्षण बाद ही भीतर से रोने की आवाज़ आने लगी थी। भाईजी के रिश्तेदार अपना शरीर छोड़ चुके थे।

स्वच्छ नीले आकाश में सफेद बादल का एक टुकड़ा तेज़ी से ऊपर जाता दिख रहा था और उसके पीछे पीछे ही प्रकाश का एक पुंज भी धुंधला होता चला जा रहा था।

भाईजी कार में बैठ गए। साथ ही अन्य लोग भी।

'आईये... आप भी आ जाईये' इतना ही कहा उन्होंने। मैं बैठ गया।

वापिस आकर भी मन शांत नहीं हुआ था। वह दृश्य अब भी आंखों के सामने से हटा नहीं था। थोड़ी देर तक मैं ध्यान लगाकर बैठ गया। चाहता था मन किसी और विषय में लीन हो जाए। जाने ऐसी स्थिति कब तक बनी रही, लेकिन जब जागृत अवस्था में लौटा तो देखा नटवर खड़ा है। मुझसे नज़रें मिलते ही प्रणाम करके फिर खड़ा हो गया। मुझे लग रहा था, वह अपने सवाल का जवाब मांगने आया होगा।

'बाबा .... हमारी तारा मौसी है .... वह श्री कृष्ण भगवान को गाली देती हैं. . रोज़ गाली देती हैं... आप उनसे मिलो और उन्हें समझाओ....'

बरबस मेरे ओठों पर हंसी तैर गयी।

'क्या हुआ.... गाली देती है तो.... देने दो... श्री कृष्ण को किसी भी रूप में याद तो करती है....' मेरी बात पर उसे आश्चर्य हुआ। उसने सोचा, ज़रूर मैं उसकी बात टाल रहा हूं।

'बताओ.... अब क्या करूं मैं?' मैंने उसी से पूछा।

'आप मेरे साथ ... उनके पास चलो ... और डांटो' अब की बार वह ज़िद पर अड़ गया।

'लेकिन मैं तो संन्यासी हूं.... संन्यासी किसी के घर नहीं जाते... ।'

'लेकिन वह भी तो पांवों से लाचार है.... उन्हें लकवा मार गया है.. वह चलकर यहां तक नहीं आ सकती'।

'अच्छा।' मैंने सोचकर कहा, तो शाम को चार बजे तुम आ जाना.... मैं चलूंगा तुम्हारे साथ।'

उसने दीवार पर लगी घड़ी की ओर देखा, एक बजा था। वह चला गया।

9.

पहली बार राप्ती नदी के किनारे जब मैं लेटा था और श्री कृष्ण को किशोर रूप में आकाश में देखा था तो मैंने इसे मायावी छल समझा था। अपनी आंखें बंद करके मैंने दृश्य को पलट देने का प्रयास किया था। लेकिन जैसे जैसे मैं दृश्य को हटाने की चेष्टा करता था, वैसे वैसे वह मेरे निकट, और निकट होता जाता था और एक वक्त तो ऐसा आया जब मुझे लगा राधा कृष्ण की युगल जोड़ी मेरे हृदय पटल पर ही अंकित हो गई है। इसके पहले मैं ईश्वर के निराकार स्वरूप को पूजता रहता था। अब यह सब जैसे चमत्कार जैसा था। अचानक मैं तब से साकार स्वरूप को पूजने लगा और वह भी अपने आप। अब हर किसी व्यक्ति में मुझे श्री कृष्ण के स्वरूप ही दिखते थे। हर स्त्री में जगज्जननी श्री राधा ही दिखाई देती थी। मुझे लगता मैं गोपी हो गया हूं और निरंतर श्री कृष्ण लीला के चिंतन में डूबे रहने में ही सुख अनुभव करने लगा था। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं सुहाता था।

चार बजे नटवर द्वार पर खड़ा था। मैंने उसे समय दिया था और तारा मौसी के यहां चलने का आश्वासन भी। भाईजी को जब पता लगा तो उन्हें आश्चर्य हुआ लेकिन तारा मौसी के श्री चिम्मनलालजी की बहिन होने के कारण उन्होंने तुरंत स्वीकृति भी दे दी।

अत्यंत साधारण घर में तारा मौसी रहती थी। घर में सामान नहीं के बराबर था। मौसी के शरीर के निचले हिस्से में लकवा मार गया था, इसलिए वह सारा घर का कार्य फर्श पर घिसटते हुए ही किया करती थी। मेरे आने की खबर उसे हो चुकी थी इसलिए वह मुझसे मिलने को तैयार ही बैठी थी। घर के भीतर मैंने अकेले ही प्रवेश किया। बाकी सब बाहर ही रह गये। मौसी ने एक कपड़ा कुर्सी पर बिछाकर मेरे बैठने को आसन सा बना दिया था।

'नहीं, मैया, मैं तो फर्श पर ही तुम्हारे पास बैठूंगा' यह कह कर मैं सच में उसके पास ही निस्संकोच बैठ गया।

औपचारिक कुशल क्षेम के बाद मौसी ने कहा 'बाबा, लोग कहते हैं.... आप श्री कृष्ण से साक्षात् मिले हो.... उनसे बातचीत भी करते हो.... मेरी एक बात उन तक पहुंचा दो.... बड़ी कृपा होगी।'

मुझे हंसी आ गई।

'मैया.... ज़रूर पहुंचा दूंगा .... अगर वह मेरी सुन लेंगे तो ....।'

'क्यों नहीं सुनेंगे आपकी..... और अगर वह आपकी भी नहीं सुनेंगे ... तो ऐसे श्री कृष्ण से मुझे कुछ भी नहीं कहना' इस बार तारा मौसी नाराज़ होती दिखीं।

'....लेकिन मैया.... मुझे लोग कहते हैं, तुम तो श्री कृष्ण को गाली देती हो' मैंने अपनी बात कह ही दी।

'हां, देती हूं... और रोज़ देती हूं...'

'क्यों।'

'वैसे तो वह सुनते नहीं.... शायद गाली देने से ..... नाराज़ हो कर जल्दी दौड़कर मुझसे मिलने आ जायें.... गुस्से में ही सही।'

मौसी के भोलेपन ने और उनके विश्वास ने मुझे चुप करा दिया। भगवान और भक्त के बीच अब मेरे पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रही थी। भगवान को बुलाने का भक्त का यह अपना रास्ता था।

'बाबा, जब मैं ठीक थी..... खूब याद करती थी भगवान को ... फिर भगवान ने मुझे निस्संतान बना दिया.... मैंने और याद किया..... तो .... लूली लंगड़ी बना दिया— और याद किया तो .... गरीब .... पैसे पैसे को मोहताज़ बना दिया।' वह रोनी सी हालत में आ गई। उसके चेहरे पर उभरी हुई झुर्रियों से वेदना छलक रही थी, 'यह कैसी लीला है... उनकी?'

'मैया....भगवान दुख और दारिद्रय किसी को देता है तो इसलिए कि वह उसे निरंतर याद करे.... सुख और समृद्धि देता है तो इसलिए कि वो उसे भूल जाए...' लेकिन मौसी ने बीच में ही बात काट दी।

'लेकिन बाबा, दुख की कोई हद भी तो होनी चाहिए....? '

'यही तो इम्तिहान है मैया..... और देखना इसमें तू अव्वल रहेगी... सबसे अधिक अंकों के साथ पास होगी....'

मेरी इस बात पर तारा मौसी हंस दी।

'अब मैं समझ गई... श्री कृष्ण ने आपको पहले से ही मेरी बातों के उत्तर देकर भेजा है....क्योंकि आप भी उनकी भाषा में ही बात करते हो।'

मैं चुप हो गया। मुझे विश्वास हो गया कि तारा मौसी श्री कृष्ण से कई बार ज़िरह कर चुकी है और आखिर हार थककर उनके लिए बिना हिचक कटु शब्दों का प्रयोग करती रहती हैं। यह उनके परस्पर प्रेम की पराकाष्ठा है। निकटता का परिणाम है।

'मैया बृजनन्दन अवश्य अवश्य कल्याण करेंगे.... तू निश्चिंत रह.... तेरी

बात अवश्य अवश्य सुनी जायेगी।'

मैं उठकर जाने को तैयार होने लगा।

'चाय पीकर तो जाएंगे ना ?'

'नहीं मैया, मैं चाय नहीं पीता।'

तो.. दूध, तो ले सकते हैं... देखिए ना ... श्रीकृष्ण भी कितने चतुर हैं... जब भी चूल्हें में लकड़ी सुलगाने बैठती हूं.... अपनी बांसुरी बजाने लगते हैं.. और...'

मैं उसकी बात को काटकर बीच में ही बोल पड़ा। 'अरे... तो यह तो अच्छी बात है.... बांसुरी का मीठापन..... खाने में मिल जाता होगा....।' कह कर मैंने हाथ जोड़ दिए।

'लेकिन उनकी बांसुरी की धुन से मेरी सूखी लकड़ियां हरी हो जाती हैं.... वे सुलगती भी तो नहीं जल्दी से....'

इस जवाब से मैं चुप हो गया। बूढ़ी अंधी तारा मौसी को किसी ने सूखी लकड़ियों के स्थान पर गीली लकड़ियां पकड़ा दी होंगी जो सहज रूप से सुलगती नहीं हैं....तो उन्होंने इसे भी श्री कृष्ण की कृपा से जोड़ दिया था। मैंने झुक कर मौसी को प्रणाम किया। मेरे पास शब्द नहीं थे, कि मैं कुछ बोलूं। मैं आया तो था मौसी को समझाने लेकिन खुद पाठ पढ़कर जा रहा था। ज़िन्दगी का ऐसा पाठ जो किसी किताब, किसी ग्रंथ में नहीं मिल सकता था।

इसी क्रम में बार बार अब मुझे अपनी मैया का चेहरा याद आने लगा। लौटते हुए पूरे रास्ते केवल मैया का विचार ही आता रहा। संन्यास लेने के बाद एक बार भी उससे मिल नहीं पाया था। उसकी चिंता, उसकी व्याकुलता, उसकी तड़प, एक एक कर मुझे झिंझोड़ रही थी। मैं अपने आपसे कह रहा था 'तू चाहे कितना भी बड़ा संन्यासी हो जाए.....कितनी ही दूर चला जाए....क्या अपनी मैया के चिंतन से दूर जा सकेगा... क्या उसकी सोच से विलग हो सकेगा।' जवाब आता था 'नहीं, कभी नहीं'। मैंने निर्णय किया कि जब भी अवसर मिलेगा, एक बार अपनी मैया से मिलने ज़रूर जाऊंगा।

अगले दिन मैंने भाईजी को अपनी इच्छा बता दी। थोड़ी देर तो वह चुप रहे लेकिन फिर बोले –

'बाबा, कुछ ही दिनों में कलकत्ते से संत महाराज आ रहे हैं.. वे गीता पर अपने विचारों को लेखनीबद्ध करने का कार्य आपको सौंप चुके हैं.... मेरा विचार है इस कार्य को सम्पन्न करके आप चले जायें।'

मैंने स्वीकार कर लिया। जैसा कि भाईजी ने कहा था, वास्तव में संत महाराज आ गये। भाईजी, मैं, वे और कल्याण सम्पादन विभाग के कुछ विद्वान प्रत्येक शाम को बैठक करते और संत महाराज के विचारों पर एक मत होने की कोशिश करते और जब सब एक निर्णय पर पहुंच जाते तो मेरा काम शुरू हो जाता। रात को तथा अगले दिन सुबह, दुपहर जब भी समय मिलता, मैं उन्हें कागज़ पर उतारता। दिन, फिर हफ़्ते और फ़िर महीने गुज़रते गये, पता ही नहीं चला। पुस्तक करीब करीब पूर्ण होने को थी। संत महाराज फिर कलकत्ते जा चुके थे।

पूरी पुस्तक को एक बार फिर मैंने विवेचनात्मक दृष्टिकोण से पढ़ा और जहां जहां उचित लगा मैंने उसमें सुधार भी किये। मेरा कार्य सम्पन्न हो गया था। मैंने उसे भाईजी को सौंप दी ताकि वे सम्पादक की दृष्टि से उसे अंतिम रूप दे सकें।

अब मुझे लगने लगा कि यहां रहने का कोई औचित्य नहीं है। जिस कार्य के लिए मैं आया था, वह हो गया है। अब यहां रुकने का मतलब था भाईजी पर अतिरिक्त भार बनकर रहना। संन्यास लेने के समय जब मैंने अपने भविष्य के बारे में सोचा था तो तय किया था कि अपना शेष जीवन गिर्राज पर्वत की शरण में बिता दूंगा। पहले भी जब कभी वृन्दावन जाने का कार्यक्रम बना था, तो वहां का शुद्ध सात्विक वातावरण अच्छा लगा था और मन किया था कि वहीं रहने लगूं। मुझे लगा अब वह घड़ी आ गई है। अगले दिन जब अवसर मिला तो मैंने भाईजी के समक्ष अपनी बात रख दी।

'मैंने तय किया है कि अब अपना शेष जीवन वृन्दावन में गुज़ारुं.... आपकी अनुमति चाहता हूं।'

भाईजी चुप रहे। उस समय वह कुछ पत्रों के उत्तर लिखवा रहे थे। ऐसा नहीं था कि उन्होंने मेरी बात सुनी नहीं थी, लेकिन अभिनय ऐसा ही किया जैसे उन्होंने कुछ भी नहीं सुना था। कदाचित् वह चाहते थे कि मैं अपनी बात पुनः दुहराऊं। भाईजी के मन की बात मैं भी अब ताड़ने लगा था। मैं चुप ही रहा। थोड़ी देर बाद उन्होंने स्वयं ही कहा–

'जब आपने जाने की ठान ही ली है... तो भला मैं आपको रोकने वाला कौन होता हूं.... लेकिन हां, अगर आप हमारी किसी बात से नाराज़ होकर जाना चाह रहे हैं तो उसका समाधान तो किया जा सकता है।'

'नहीं.... वह बात नहीं है जो आप समझ रहे हैं... नाराज़ होने का तो कोई कारण हीं नहीं है।'

'तो फिर दूसरी बात क्या है.... वह बता दें।'

'मुझे लगता है.... आप पर पहले से ही अनेक ज़िम्मेदारियां हैं... तिस पर मेरी व्यवस्था... का बोझ...'

'आप बोझ की बात कह रहे हैं.. इसका मतलब है आपको मेरी सामर्थ्य पर शंका है।'

'नहीं, ऐसा भी नहीं है'।

'आप मुझ पर बोझ हैं....या मेरे लिए संबल हैं... यह सोचने का काम मेरा है....ना कि आपका.... क्या मेरे किसी भी कार्य से आपको इसका भान हुआ है?'

मैं चुप हो गया। भाईजी को बातों से पराजित नहीं किया जा सकता था। मैंने अपने तरक़श का आखिरी तीर निकाला।

'वास्तव में ... मेरा मन.... गिर्राज पर्वत की शरण में रहने का है..।'

भाईजी आंखें बंद करके तकिये के सहारे लेट गये। कुछ देर यूं ही निश्चल से पड़े रहे।

‘इसका ... समाधान भी खोजते हैं.... आप थोड़ा समय तो दीजिये।’

अब मेरे पास कोई जवाब नहीं था। बात वहीं खत्म हो गई। मैं चलकर अपनी कुटिया में आ गया और आंखें बंद करके बैठ गया। थोड़ी देर बाद अचानक मुझे लगा कुटिया में दिव्य प्रकाश हो गया है और श्री कृष्ण, अपने चित्र से बाहर आकर जैसे साक्षात् प्रगट हो गये हैं।

‘तुम वृन्दावन क्यों जाना चाहते हो?’ उन्होंने मुझसे पूछा।

‘क्योंकि वह आपकी लीला स्थली है।’

‘और यहां ?’

‘यहां तो भाईजी की लीला स्थली है।’

‘भाईजी के बारे में तुम्हारी क्या मान्यता है?’

‘भाईजी तो.... एक सिद्ध कोटि के संत हैं।’

‘सिद्ध कोटि का संत किसे कहते हैं?’

‘जिसका मन, चित्त, बुद्धि और अंहकार... सब भगवत् स्वरूप हो गया हो.. जिसका हृदय आपकी लीला स्थली बन गया हो।’

‘फिर वृन्दावन और यहां में अन्तर ही कहां रह गया?’

मैं निरुत्तर हो गया। कुछ सोचकर फिर बोला—

‘मेरा... गिर्राज की तलहटी में रहने का संकल्प?’

‘वह तो विकल्प से भी पूरा हो सकता है!’

फिर जैसे दिव्य प्रकाश विलीन हो गया। मैंने आंखें खोल कर देखा मेरी कुटिया में मैं अकेला बैठा हूं और दूसरा कोई नहीं है।

मैं श्री कृष्ण के आदेश को समझने की चेष्टा में लग गया। सोचने लगा भाईजी, जिस बात को स्वयं नहीं समझा पा रहे थे, उसे उन्होंने श्रीकृष्ण के माध्यम से मुझे समझा दिया। मैं तुरन्त उठकर भाईजी के पास चला आया। भाईजी, कुछ लोगों से घिरे हुए थे। मुझे आता देख मुस्कुराये। जैसे वह जानते थे मैं आऊंगा।

'कहिये... क्या आज्ञा है?'

मैं हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

'मैं अब आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगा'।

भाईजी हंसे। आसपास के सब लोगों के चेहरे भी खुशी से चहक उठे।

'....और हम आपको जाने भी नहीं देंगे.. आपके लिए गिर्राज की स्थापना यहीं की जाएगी.... यही निर्णय हम लोगों ने अभी अभी किया है।'

मेरी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा।

'श्रीकृष्ण बड़े विचित्र हैं... और उनकी लीला को आप ही समझ सकते हैं।' मैं बस इतना ही कह सका।

'आप तो विश्राम करें.... कोई दूसरा विचार मन में नहीं लावें....' भाईजी का आदेश था।

मैं वापिस अपनी कुटिया में आ गया।

....

10.

भाईजी ने सचमुच गिर्राज पर्वत की तलहटी से चुनचुन कर पत्थर मंगवाये और मेरी कुटिया के सामने स्थित प्रांगण में ही गिर्राज पर्वत की बाकायदा स्थापना करवायी और फिर विधि विधान से उसकी प्राण प्रतिष्ठा की गई। पूरे नाप जोख के साथ प्रतिष्ठित गिर्राज जी के स्वरूप के परिसर में नित्य दर्शन होते रहें, ऐसी व्यवस्था की गई। इस सबके करने में बहुत श्रम और जतन करने पड़े थे। इसके पीछे भाईजी का दृढ़ निश्चय और मेरे प्रति अगाढ़ प्रेम ही था।

बहुत सोच विचार कर आखिर में मैंने निर्णय लिया कि एक बार मैया से मिलकर आने के बाद मैं क्षेत्र–संन्यास ले लूंगा। इसका तात्पर्य यह होगा कि निश्चित परिधि में रहते हुए ही अपना शेष जीवन गुज़ार दूंगा और वह परिधि होगी भाईजी के निवास के आसपास का 200 गज का क्षेत्र। ऐसा मैं मृत्यु पर्यंत

करता रहूंगा या अगर भाईजी सहर्ष मुझे वृंदावन जाने की अनुमति प्रदान कर देंगे तो ही इस परिधि को लांघूंगा। भाईजी को यह सब बताने से पहले, मैं एक बार जन्म देने वाली मां से मिलकर आना चाहता था।

'गीता–तत्व... विवेचनी का कार्य पूर्ण हो गया है.. अगर आप अनुमति दें तो मैं... अपनी जन्मदात्री मैया से एक बार मिल कर आ जाऊं?'

'हां, अब आप जा सकते हैं।'

'आपसे एक आज्ञा और चाहता हूं.... ।'

'वह क्या?'

'कि गांव जाकर .... मैया से मिलकर... मैं शीघ्र ही वापिस आकर आपके सान्निध्य में रहने को आ जाऊं। ... क्योंकि बिना आपकी आज्ञा के ऐसा असंभव होगा। कोई न कोई बाधा आ जाएगी। '

भाईजी मुस्कुराये और आज्ञा दे दी। इतना ही नहीं द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में यात्रा करने के लिए टिकट भी मंगवा दिया और वह स्वयं मुझे स्टेशन तक छोड़ने भी आये। इतने अरसे बाद अपने घर की तरफ जाते हुए जाने क्यों संकोच सा हो रहा था। मन ही मन लग रहा था, आज वे सब पराये हो गये हैं, जो कल बिल्कुल अपने थे। जिनके साथ खेला कूदा, खाया पीया, उठा बैठा, वे सब अब अजनबी की तरह हो गये। वे पेड़, टीले, चबूतरे.. खेल के मैदान, मंदिर, पाठशाला .. अब कैसे हो गये होंगे....सोच सोचकर रोमांच का अनुभव भी हो रहा था।

गांव पहुंचा तो शाम हो रही थी। किसी ने दौड़ कर मेरे आने की खबर घर में पहुंचा दी। उम्मीद के अनुसार मेरे आने की खबर से मैया तो पगला सी गई बेचारी। कभी इधर दौड़ी और कभी उधर। उसे न अपनी सुध रही और न अपने कपड़ों की। एकदम द्वार पर मुझे खड़ा देख पहचान ही नहीं पायी। मेरी वेश–भूषा, मेरा मुंडा सिर, हाथ में कमण्डल .....कहां कल्पना की थी उसने ऐसे स्वरूप की.... अपने बेटे के लिए।

'क्या तुमने मेरे लाल को देखा है? कोई कह रहा था वह आया है?' मुझसे

ही मेरे बारे में पूछने लगी। मुझे और तो कुछ सूझा नहीं, बस सारे संकोच छोड़ कर उससे लिपट गया। आंखों से आंसू की धारा रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। गांव भर के लोग इकठ्ठे हो चुके थे। सब की आंखें नम हो गई थीं। मैया को समझ में ही नहीं आ रहा था कि वह अपने लाल को कहां छुपाले कि अब वह दूर जा ही नहीं सके। बस रह रह कर मुझे छू रही थी और अपने को यकीन दिला रही थी वह अपने बेटे को ही इतने अरसे बाद देख रही है।

'कितना कमज़ोर हो गया है.... क्या कुछ भी खाता पीता नहीं है?' मुझे हाथ खींचकर घर के भीतर ले जाने लगी।

'नहीं मैया.... संन्यासी के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश वर्जित है.... तू तो जानती है यह।'

'तो.... कहां रहेगा तू....?'

'मैं..... वो पाठशाला है न, उसके बरामदे में रह लूंगा।'

'वहां! वहां कैसे रहेगा? नहीं.... मेरे घर में, मेरे पास रहेगा।'

'मैया....मुझे धर्म संकट में मत डाल....'

'ठीक है .... तो मैं भी वहीं रहूंगी ... तेरे पास ...' कहकर वह घर के भीतर चली गई और कुछ छोटी छोटी पोटलियाँ लेकर आ गई।

'चल......तेरे लिए मैंने... खाने के वास्ते बहुत कुछ बचाकर रखा है' मेरा हाथ पकड़कर वह मेरे साथ साथ चलने लगी। मैया, भाभी और उनके बच्चे भी वैसे ही पीछे पीछे चल पड़े। गांव के अन्य लोग भी कौतूहल के साथ हमें देखते हुए हमारे साथ साथ बढ़ रहे थे।

गांव की पाठशाला वही थी जहां मैंने शिक्षा ग्रहण की थी। स्कूल की इमारत अभी भी ज्यों की त्यों रखी थी। बरामदे का फर्श भी वैसा ही था। हैडमास्टर साहब ज़रूर नये थे लेकिन मेरे बारे में पूरी बात जानकर उन्होंने सहर्ष मुझे बरामदे में रूकने की आज्ञा दे दी। वे तो कमरे भी खोलने को तैयार थे,

लेकिन मैंने ही मना कर दिया।

बरामदे में ही मैया मेरे पास बैठ गई और एक एक कर पोटलियां खोलती, उसमें रखी खाद्य सामग्री सूंघती और फिर मुंह बनाकर फेंक देती। जब भी घर में कोई अच्छी चीज़ बनती थी वह थोड़ा सा मेरे लिए बचाकर रख लेती थी और फिर बाट जोटती रहती थी। दिन गुज़र गये, महिने गुज़र गये। मेरा आना हुआ नहीं और वह खाद्य सामग्री खराब हो गई। जैसे ही पोटलियां खत्म हुई मैया ने देखा कि इतनी सारी पोटलियों में से खाने योग्य तो कुछ भी नहीं है तो वह चिंतित हो गई। तब ही मैंने देखा भाभी रोटियां, सब्जी और चटनी लेकर आ गई है।

'अरे भाभी.... बस इतनी सी चीजों से मेरा पेट कैसे भरेगा.... इतने दिनों की इच्छा क्या यूं ही पूरी हो जाएगी...?' मैंने मज़ाक में कहा तो वह भी चूकी नहीं।

'साथ में प्यार और ढेर सा प्रेम भी तो लाई हूं।'

वहां खड़े सभी लोग हंस पड़े।

सच था, प्रेम और प्यार के साथ जो रोटियां, सब्जी और चटनी खाई तो लगा जनम जनम की भूख मिट गई है। मैया स्वयं अपने हाथ से कोर तोड़ती कभी सब्जी में भिगोती, कभी चटनी लगाती और कभी कुछ भी लगाये बगैर वैसे ही मुंह में डाल देती। जाने कब तक यह सिलसिला चलता रहा। सारा खाना खत्म हो गया।

'लो, मैंने, तेरे लिए तो कुछ भी छोड़ा ही नहीं' मैंने कहा।

'कोई बात नहीं– मैं तो खा लूंगी..... तूने मेरे सामने खा लिया, मेरा पेट भर गया'– मां का जवाब था। सोचने लगा, जब यहां से चला जाऊंगा तब क्या होगा। निश्चित था तब सब बदल जायेगा। यह वातावरण। यह देस। ये उलाहनें, ये शिकायतें, ये तसल्लियां.... सबको समय अपने गर्त में छुपा लेगा। मैं फिर राधा बाबा हो जाऊंगा। एक घेरा बन जाएगा मेरे चारों और। फ़ासले खड़े हो जायेंगे, मेरे इर्द गिर्द। औपचारिकताओं की बाड़ मुझे छुपा लेगी। अभी कैसे मुझे लोग बेधड़क छूकर देख रहे हैं। निस्संकोच बातें कर रहे हैं....फिर, फिर यह सब नहीं

हो सकेगा। एक पर्दा हमारे बीच आ जायेगा। जल्दी ही वापिस लौटने का समय हो गया। मैया सबसे कहती फिर रही थी....मुझे रोक लें.... मुझे रोकलें... और मैं जानता था, मैं किसी के रोके नहीं रुक सकूंगा.... अगर रुक सकता था तो केवल मैया के कहने से... और वह स्वयं अपनी ज़ुबान से रुकने को नहीं कह रही थी। शायद जान गई थी कि मेरा भविष्य कहां मुझे ले जाएगा। अपना अतीत तो मैं पहले ही छोड़ आया था... अब नन्हें नन्हें पौधों के समान उग आई यादों को भी छिटककर मैंने तोड़ दिया। सब पीछे छोड़ आया। स्नेह से सिक्त आंखें, विदा के लिए उठते झुर्रियों वाले हाथ, अभिवादन करते लोग, पलस्तर झरती दीवारें, टूटे फर्श, धूल भरे मैदान..... सब रेलगाड़ी की रफ़्तार के आगे पिछड़ गये।

मैंने गया पहुंचकर गंगा में स्नान किया और वहां अंजुरी में जल लेकर संकल्प किया कि आजन्म भाई जी के सान्निध्य में ही रहूंगा और जब तक वे स्वयं सहर्ष जाने की आज्ञा नहीं देंगे तब तक कहीं भी नहीं जाऊंगा। निश्चयानुसार क्षेत्रीय संन्यास ले लूंगा। 24 घन्टों में एक बार उनके दर्शन करके ही अन्न जल ग्रहण करूंगा। मुझे मालूम पड़ गया था कि भाईजी कलकत्ते आ गये हैं। मैं गया से सीधे उनके पास ही पहंच गया। उन्होंने सहर्ष मेरा स्वागत किया। कुशलक्षेम पूछी और फिर मेरे ठहरने की व्यवस्था कर दी। उन दिनों भाईजी अत्यधिक व्यस्त चल रहे थे फिर भी दूसरे दिन उन्होंने मुझसे मिलने के लिए समय निकाल ही लिया।

'देख रहा हूं, आप के मन में कुछ चल रहा है?'

'हां, चल तो रहा है कुछ उलझनें हैं....' मैंने कहा।

'बताना नहीं चाहते हैं.... तो मत बताइये....'।

'नहीं, बहुत सारे प्रश्न मन में खड़े हो गये हैं.... उनके समाधान के लिए मुझे एक गुरू की आवश्यकता है.... आप तो किसी को शिष्य बनाते नहीं.... तो मुझे ही दूसरा कोई उपयुक्त गुरू बता दीजिये।'

भाई जी हंसे। मन की बात वह ताड़ गये थे।

'किसने कहा मैं शिष्य नहीं बनाता....' भाईजी ने कहा।

मैं चुप हो गया।

'अपने दोनों हाथ आगे की तरफ बढ़ाइये..... इस तरह, कि अंगुलियों के नख ऊपर की ओर रहें।'

मैंने ऐसा ही किया। उन्होंने अपने हाथ की अंगुलियों को एक एक बार मेरी अंगुलियों से स्पर्श किया और ऐसा करने के बाद कहा, 'जाइये...अब आप अपनी तमाम उलझनों से मुक्त हो गये हैं..... अब से आपकी उलझनें मेरी हो गई।'

सचमुच चमत्कार ही हो गया था। एक भारी बोझ जैसे सिर से उतर गया था। मैंने झुककर उनके पांव छूने चाहे। गुरू शिष्य का संबंध जो बन गया था।

'नहीं...नहीं... ऐसा मत करिये... चाहे मैंने आपको शिष्य बना लिया है.... लेकिन फिर भी संन्यासी होने के नाते आप हम सबके लिए पूज्य ही रहेंगे।' कहकर उन्होंने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिये। कुछ देर तक वे मेरी आंखों में देखते रहे और फिर मुस्कुरा कर चल दिये।

वे चल तो दिये, मगर मेरी आंखों में अनन्त आकाश छोड़ गये और छोड़ गये मन में एक शांत गहराता समुद्र। जिज्ञासाओं के पंख फड़फड़ाते परिन्दे भी अब चुप होकर बैठ गये थे। भाईजी जैसे योग्य गुरू को पाकर मैं अपने को धन्य समझ रहा था। मन्द शीतल बयार भी इठलाती हुई बह रही थी। लग रहा था तितलियां अपने पंखों पर फूलों की महक को साथ लेकर पूरे उपवन को जैसे यह समाचार देना चाह रही थीं। मैं देर तक एक पौधे से दूसरे पौधे तक फुदकती तितलियों को देखता रहा। खुशी में झूमती इन नन्हीं जानों ने तो जैसे न थकने की ठान ली थी। बरसों बाद जैसे उनके मन की बात हो गई हो।

करीब एक हफ़्ते तक कलकत्ते रहकर हम लोग रतनगढ़ आ गये। वहां भाईजी को कुछ दिन विश्राम करना था। स्वाभाविक था, उनके साथ साथ वहां कल्याण का सम्पादकीय विभाग भी आ गया। यहीं से सारी गतिविधियां नियंत्रित होती रहीं।

यहीं पर मैंने देखा एक वृद्ध ब्राहमण नियमित रूप से भाईजी के प्रवचन सुनने आया करते है। एकाग्र चित्त से उन्हें बैठे देखकर न जाने क्यों मुझे लगा, जरूर ये श्री कृष्ण के परम भक्त हैं। संयोगवश, एक दिन प्रवचन के बाद, मैंने

देखा वे मेरे सामने हाथ जोड़कर खड़े हैं। प्रत्युत्तर में मैंने भी हाथ जोड़ दिये।

'बाबा, बहुत दिनों से देख रहा था आपको, लेकिन मिलने का अवसर ही नहीं मिल पाता था और मंच पर आने का साहस मैं नहीं जुटा पा रहा था। आज श्रीकृष्ण की कृपा देखिये– आपके दर्शन करने के लिए, उन्होंने स्वयं ही मुझे आपके सामने खड़ा कर दिया।'

'आप तो ब्राह्मण हैं– वैसे ही पूज्य हैं.... मैं तो एक तुच्छ व्यक्ति हूं... भाईजी की कृपा से उनके साथ रह रहा हूं' मैं बस इतना ही कह पाया था कि वे मेरे चरणों पर गिर गये। 'अरे, यह क्या कर रहे हैं.... आप तो उम्र में भी मुझसे बड़े हैं ... मेरे चरणों को छूकर मुझे पापी क्यों बना रहे हैं?' मैंने कहा।

'मैं ... अपनी ओर से कहां कुछ कर रहा हूं.... मैं तो बस उसकी आज्ञा का पालन कर रहा हूं' उन ब्राहमण महाशय ने कहा, तो मैं समझ नहीं पाया।

'किसकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं?'

'बिहारी जी की'।

मैं समझा नहीं, एकटक उनको देखता रहा।

'बिहारी जी.... अर्थात?'

'बिहारी जी के मंदिर वाले प्रभु' इस बार उन्होंने स्थिति स्पष्ट की। उन्होंने ही मुझे स्वप्न में आदेश दिया कि रतनगढ़ जाओ– वहां मैं भी जा रहा हूं, बस बिना देर किये मैं यहां चला आया, और आपके दर्शन हो गये.... मेरा तो मनोरथ पूर्ण हुआ.... बिहारी जी भी तो रूप बदलते रहते हैं....कभी भगवा वस्त्र भी पहन लेते हैं.... और कभी गृहस्थ संत बनकर 'भाईजी' के स्वरूप में दर्शन देने लग जाते हैं....' भावावेश में उनका गला रुंध गया था और भर्राए गले से उनके बोल भी स्पष्ट नहीं निकल पा रहे थे।

मैंने उन्हें एक बार फिर साष्टांग प्रणाम किया।

'आप धन्य हैं...प्रभु.... आप धन्य हैं.... आपको तो साक्षात् श्री कृष्ण से

आदेश प्राप्त होता है' ।

वह कुछ नहीं बोले, केवल मेरे सामने खड़े रहे और उनकी आंखों से आंसुओं की अविरल धारा बहती रही, उनके जाने के बाद मैंने भाईजी को यह बात बतायी तो वे भी हंसे।

'चलो..... आप अब बिहारी जी भी बन गये..... पहले तो श्री राधा थे, अब आपका नाम होना चाहिए राधा बिहारी' ।

'आप मज़ाक कर रहे हैं?'

'नहीं.... बिल्कुल नहीं.... लेकिन अगर किसी संत को अपने किसी भक्त के विश्वास को बनाये रखने के लिए.... भगवान बनने का अभिनय भी करना पड़ता है.... तो उसमें कुछ भी एतराज़ वाली बात नहीं है,.. फिर भगवान का अभिनय करना भी क्या सहज है? अगर किसी को विश्वास ना हो तो वह ऐसा करके देखले,' कह कर भाईजी जाने लगे।
मैंने उन्हें रोक लिया।

'क्या आपने कभी ऐसा किया है?'

मेरे सवाल पर वह ठिठक गये, उनकी आंखें बंद हो गईं। खड़े खड़े ही वह जैसे समाधिस्थ होते जा रहे थे।

'मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया आपने?' उनकी आंखें फिर खुली।

'आपको एक बात बताता हूं... काशी में परमहंस विशुद्धानन्दजी नामक एक संत हुए हैं.... जो गंधी बाबा के नाम से विख्यात थे..... उनके बारे में कहा जाता है कि वे कांच पर से सूर्य की किरणों को किसी वस्तु पर गिराते हुए मनचाही गंध उत्पन्न कर देते थे। उनकी इस महारत् को अनेक लोगों ने अनेक बार देखा तथा चकित हुए बिना नहीं रह सके।'

'क्या आप भी कभी उनके पास गये?'

'हां .. मैं भी गया... यह आपके यहां आने से पहले की बात है... बड़े महात्मा पुरूष थे.... प्रेम भाव से मिले और मेरे आने मात्र से ही समझ गये कि मैं उनकी परीक्षा लेने आया हूं ।'

'ऐसा!'

'हां– लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था.... मैं तो उनके बारे में सुनकर.... उत्कंठा के साथ..... उनके पास पहुंचा था.... उन्हेंाने मुझसे पूछा कि कौन सी गंध.. . मैं चाहूंगा कि वे उत्पन्न करें।'

'क्या कहा आपने?'

'मैं क्या कहता.... मेरे मन में तो एक ही चाह रहती है.... मैंने निस्संकोच कह दिया.... मुझे तो श्रीकृष्ण के अंगों की गंध सूंघने की लालसा है..... अगर ऐसा हो सके तो मैंने कहा मैं तो धन्य हो जाऊंगा... मेरा जीवन सफल हो जाएगा।' मुझे हंसी आ गई।

'फिर!'

'फिर क्या.... वह चुप हो गये।'

'मैंने भी आगे बात बढ़ाने के उद्देश्य से चर्चा के विषय को बदलने का प्रयास करना चाहा, लेकिन उन्हें जैसे यह एक चुनौती लगी और वह अत्यंत गम्भीर हो गये। उनके वृद्ध शरीर में एक तेज था और कहीं से भी वह थके और हारे नज़र नहीं आते थे। उन्होंने मुझे अपने पास बिठाया और स्वयं शांति पूर्वक कुछ देर ऐसे ही बैठे रहे। अचानक उन्हें जैसे होश आ गया।'

'देखिये .... यह तो आप जानते हैं कि श्रीकृष्ण के अंगों की गंध उत्पन्न करना हम जैसे लोगों के लिए एकदम असंभव है.... लेकिन मैंने चूंकि उम्र भर इसके अलावा और कोई कार्य नहीं किया.... यही मेरी तपस्या है और यही मेरी कृष्ण भक्ति है.... पूजा है, इस तपस्या के फलस्वरूप मैं अगर ऐसी कोशिश करूं... . और शायद श्री कृष्ण के अंगों की अलौकिक गंध का सहस्त्रांश भी मैं उत्पन्न कर सकूं तो उसे पहचानेगा....परखेगा कौन?'

‘ज़ाहिर था मैं चुप रहा। मैं जानता था उनकी शंका बिल्कुल सही है। उस अलौकिक गंध को केवल वही पहचान सकता है जिसने कभी वैसी गंध को सूंघा हो।’

‘देखिये आपका पूरा जीवन श्री कृष्ण के चरणों में बीता है और आप स्वयं कह रहे हैं कि यह उस तपस्या और भक्ति का ही प्रताप है कि मनचाही गंध आप कांच के माध्यम से सूर्य की किरणों से उत्पन्न कर सकते हैं तो मेरा मत यह है कि .... हमें आप पर सौ प्रतिशत विश्वास कर लेना चाहिए– और जो गंध आप उत्पन्न करेंगे – उसे श्री कृष्ण के अंगों की गंध का ही एक भाग स्वीकार लेना चाहिए। उपस्थित सभी व्यक्तियों ने मेरी बात का समर्थन किया।’

‘क्या उन्होंने ऐसा किया?’ मेरा स्वभावतः अगला सवाल था।

‘हां.... और आज भी मेरे पास एक शीशी है जिसमें वह अलभ्य गंध सुरक्षित है....’ कहते हुए भाईजी की आंखों में एक तेज उभर आया।

‘....और आपने उसे मुझसे भी छुपाये रखा!’

‘यकीनन.... वह मेरी एकदम निजी वस्तु है– एक मात्र ऐसी वस्तु जिसे आज तक मैंने किसी के साथ बांटी नहीं है.... लेकिन अब आप चाहेंगे .... तो आपसे उसे बांट सकता हूं।’

मैंने हाथ जोड़ दिये और अपने को उपकृत समझा। जाते जाते उन्होंने एक बात और बताई ।

‘कहा जाता है.... जब किसी को भगवत् दर्शन होते हैं तो पूरे वातावरण में पहले भगवान के अंगों की दिव्य गंध व्याप्त हो जाती है। चैतन्य महाप्रभु को जब भगवान के दर्शन होते थे तो उनके आसपास वही अलौकिक गंध भर जाती थी और उस गंध के प्रभाव से उनके आसपास खड़े सभी व्यक्ति भावोन्मत्त होकर अपनी सुध बुध खो देते थे– कुछ तो विरह क्रन्दन तक करने लग जाते थे।’

भाईजी के सत्संग का समय हो रहा था, वह रुके नही, चले गये।

....

11.

गोरखपुर पहुंच कर जाने क्यों मन हुआ कि बगीचे में जितने भी कर्मचारी हैं, सेवक हैं.... उनके लिए एक 'इच्छा भोज' आयोजित किया जाए। हमेशा ही वे लोग सबकी सच्चे मन से यथा शक्ति सेवा करते रहे हैं.... एक दिन उन्हें भी सेवा और सम्मान पाने का अवसर दिया जाए । काम बड़ी श्रद्धा और सच्ची भावना से किया जाना चाहिए। भाईजी की पुत्री को जब मेरी इच्छा का पता लगा तो वह

सारी व्यवस्था को तुरंत तैयार हो गई। भाईजी को भी एतराज़ नहीं था। 'बाबा का मन है.... तो म्हानै कांईं एतराज कोनी' यह कहा उन्होंने और तुरन्त ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। आनन फ़ानन में तैयारी होने लगी। निश्चित् दिवस पर बगीचे तथा कार्यालय के सभी सेवाकर्मियों को मेरी कुटिया के सामने ही बिठाकर भोजन कराया गया। मेरे साथ साथ भाईजी, उनकी पुत्री, उनके दामाद तथा अन्य अधिकारियों ने परोसने का कार्य किया। शुरू में तो सभी सेवाकर्मियों को संकोच का अनुभव होता रहा और वे सेवा लेने मे आनाकानी करते रहे, लेकिन बाद में परस्पर निकटता के भाव और प्रेम प्रदर्शन से वातावरण बड़ा अच्छा बन गया। बरसों से जो लोग हम लोगों की सेवा करते आ रहे थे, आज सेवा ले रहे थे। उन्हें भी लग रहा था, एक दिन के लिए ही सही, उनके स्थान में भी परिवर्तन हुआ तो.... वे सेवक के पद से मुक्त तो हुए। जल्दी ही भोजनादि का कार्यक्रम सम्पन्न हो गया और अगले दिन ब्राह्मणों को भोजन कराने का कार्यक्रम तैयार होने लगा। वह बड़ा आयोजन था और इस कार्यक्रम से भिन्न था। उसका स्वरूप भी बृहद् था।

सर्व प्रथम आये हुए ब्राह्मणों को आसन पर बिठाकर उनके चरणों को धोने का कार्यक्रम था। उन्हें पंक्ति में लगाये गये आसनों पर बैठा दिया गया। मैं चाहता था चरण धोने का कार्यक्रम मेरे द्वारा हो। भाईजी चाहते थे उनके द्वारा हो। आए हुए ब्राह्मणों को इस पर बड़ा संकोच हो रहा था। वे तैयार नहीं हुए। बाद में यह निश्चित हुआ कि वाटिका में रहने वाले मोती जी के द्वारा यह कार्य किया जाए। मोतीजी महात्मा सा जीवन गुज़ारने वाले भक्त थे। छोटी से कुटिया में बरसों से रहते आ रहे थे। स्वयम् पाकी थे। सब कुछ छोड़ छाड़कर वह यहां रहने चले आये थे और फिर यहीं के होकर रह गये। जैसे ही मोती जी को पता लगा तो वह खुशी से फूले नहीं समाये। उन्हें लगा कितना बढ़िया अवसर उन्हें मिल गया है। अपने को धन्य समझते हुए वह आकर खड़े हो गये।

अचानक मैंने देखा ब्राह्मणों की पंक्ति को देखकर मोतीजी ठिठक गये हैं और साथ में उनके पास पानी लेकर खड़ा व्यक्ति और बड़ी थाली लेकर खड़ा सेवक भी ठहर गया है। मुझे तुरंत ही बात समझ में आ गई। ब्राहमणों की पंक्ति में जो सबसे पहले दो ब्राहमण बैठे थे उन्हें कुष्ठ रोग था। उन्हें स्पर्श करने तथा उनके चरण धोने में मोती जी को हिचकिचाहट होना स्वाभाविक था। जाने क्या सोच कर उन्होंने कुछ ही देर में अपने को सहज और संयत कर लिया। वे आगे बढ़े ब्राह्मण देवता के चरणों के पास बैठे। उनके चरणों को थाली में रखा और

फिर जल से उन्हें धोया। इसी तरह दूसरे ब्राहमण देवता के साथ भी किया गया। तुरंत ही मुझे एक तरकीब सूझी।

'अरे, इस थाली को भइया इधर रख दो.... इसमें पानी ज़्यादा भर गया है. ... दूसरी थाली लेकर आओ तो–' मेरी बात पर तुरंत अमल हुआ। दूसरी थाली आ जाने से मोती जी भी मन ही मन खुश नज़र आये। उन्होंने पूरी प्रक्रिया क्रमानुसार सम्पूर्ण कर दी। बाद में भोजन कराया गया और उन्हें शॉल तथा दक्षिणा देकर ससम्मान विदा कर दिया गया।

कार्यक्रम के बाद मोती जी नज़र झुकाकर मेरे सामने खड़े हो गये। मैं उनके मन की बात समझ गया।

'आईये प्रभु' मैंने उनका स्वागत किया।

जवाब में वे कुछ बोले नहीं। चुप खड़े रहे।

'किस उलझन में पड़े हुए हैं?' मैंने सवाल किया।

'बाबा, आप तो सब जानते हैं....' बस इतना ही कह सके वे।

मैं थोड़ी देर तो चुप रहा, लेकिन अचानक मेरी नज़र उस थाली पर पड़ गई जिसमें पहले दो कुष्ठ रोगी ब्राहमणों के चरण धोये गये थे। वहां जल अभी भी ज्यों का त्यों पड़ा था। शायद भूलवश पड़ा रह गया, अन्यथा वह फेंक दिया जाना था।

'वह देख रहे हैं वहां' मैंने उस ओर इशारा किया तो मोती जी देखते ही समझ गये।
'हां.... समझ गया।'

'मेरे मन में एक विचार आया है' मैंने मोती जी के पास जाकर कहा। 'इस जल को पी लिया जाए.... क्या आप ऐसा कर सकेंगे?'

मोती जी को जैसे सांप सूंघ गया।

'जी, बाबा' उन्होंने हिम्मत बटोर कर कहा। मैंने एक गिलास मंगवाया और उसमें उस जल को भरकर अपने हाथ में ले लिया।

'पहले मैं पीऊंगा.... फिर आप पी लेना' मैंने कहा तो मोती जी उछल पड़े।

'नहीं.... नहीं....बाबा'।

'अगर कुछ होगा तो मुझे भी होगा' मैंने कहा।

'नहीं.... नहीं मेरा मतलब यह नहीं है।' वे कुछ आगे कह पाते इससे पहले मैंने गिलास खाली कर दिया। अब तो मोती जी को भी जैसे एकदम से जोश आ गया। उन्होंने तुरंत गिलास में वह जल भरा और उसे पी गए। एक बार नहीं, दो बार।

'मुझे क्षमा कर दीजिए....' वह ज़मीन पर बैठ गये।

'मुझे ज्ञान नहीं रहा कि श्री कृष्ण इस रूप में भी तो आ सकते हैं....' उनका चेहरा रुआंसा हो गया। 'मेरी दृष्टि में भेद हो गया था.... अब आप जो भी सज़ा देंगे मुझे स्वीकार होगी।'

'सज़ा कैसी.... अब तो उस जल को पीकर हम दोनों ही शुद्ध हो गए। मन का सारा मैल धुल गया।'

मोती जी कुछ देर यूं ही चुप खड़े रहे और फिर प्रणाम कर अपनी कुटिया की ओर चल दिए। मैं भी मुड़कर अपनी कुटिया की ओर जा ही रहा था कि मैंने देखा प्रतिमा बिटिया सामने खड़ी मेरी प्रतीक्षा कर रही है।

प्रतिमा श्री चिम्मन लाल जी के भानजे की पत्नी थी और बरसों से वाटिका परिसर में रहकर मेरी सेवा करती रहती थी।

'अरे बिटिया तुम.... इस वक्त?'

उसने कहा कुछ नहीं बस अपनी आंखों से आंसू टपकाती रही।

‘आओ....आओ.... बैठो मेरे पास....’ कह कर मैं उसे अपनी कुटिया के पास ले गया।

‘क्या हो गया.... बताओ....’ मैंने पूछा।

‘बाबा.... सरदारजी को आप जानते हैं ना .... जो हमसे सामान खरीदा करता है....’

‘हां.... कभी कभी यहां जनरल मीटिंग में.... मैंने देखा भी है।’

‘उसने मुझे झूठा ‘चैक’ दे दिया.... उसके बैंक में पैसा है ही नहीं....’

‘अरे.... तो, तुमने कहा नहीं उससे....?’

‘तीन चार बार कहा.... हमेशा.... टाल देता था.... आज मैंने देखा....कि वह बिल्कुल ही देना नहीं चाहता तो.... उसे ‘चैक’ दिखाया और कहा कि मैं दावा करुंगी....’

‘अच्छा .... फिर?’

‘फिर क्या उसने देखने के लिए मुझसे ‘चैक’ लिया.... और उसे फाड़कर फेंकते हुए कहा.... जा अब इन टुकड़ों को ले जाकर .... दावा कर दे।’

मुझे पूरी बात समझ में आ गई। सीधी सादी महिला के भोलेपन का फायदा उठाते हुए उसने यह कारस्तानी की थी। कोई पुरूष होता तो कदाचित वह ऐसा दुस्साहस नहीं कर पाता।

‘अब क्या करूं....बाबा’ कहती हुई वह फिर से रोने लगी।

‘अरे.... इसमें रोना क्यों.... श्री कृष्ण उससे सब वसूल लेंगे....’ मैंने कहा तो उसे विश्वास नहीं हुआ। उसे लगता था मैं तुरंत ही किसी व्यक्ति को उसके

पास भेजूंगा और उसे इस करतूत का सबक सिखाऊंगा। जब उसने देखा कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा तो उठी और चली गई।

संयोगवश कुछ दिनों बाद मुझे वे सरदारजी जनरल मीटिंग में बैठे दिखाई दिये।

'कहिये....सरदार जी.... कैसे हैं?'

मुस्कुराते हुए वे खड़े हो गये।

'एक बात आपसे करनी थी.... प्रतिमा का जो पैसा आपको देना है.... उसे बिल्कुल मत देना.... और उस रकम से बढ़िया सा तेल लाकर.... अपनी दाढ़ी में रोज़ लगाना.... ।'

गर्दन झुकाए सरदार जी एकदम शर्मिन्दा से हुए और पीछे मुड़कर चल दिए। उसके बाद वह फिर कभी नहीं दिखे। बाद में भी उन्होंने पैसा नहीं दिया.... लेकिन इतना ज़रूर पता लगा था कि उनकी पत्नी जलकर मर गई और वे गोरखपुर छोड़कर अन्यत्र कहीं चले गये थे।

इस बीच भाईजी की तबियत फिर बिगड़ने लगी। उनका पुराना रोग (कैंसर) फिर से उभर आया। उन्हें अत्यंत कष्ट होता रहता था। इस कारण उनकी दिनचर्या भी यथावत् नहीं रह पाती थी। कई चिकित्सकों ने उनका इलाज किया लेकिन किसी के भी इलाज से किसी, तरह का फायदा नहीं हो पा रहा था। किसी के परामर्श पर वह अजमेर भी गये और वहां के एक चिकित्सक के इलाज से थोड़ा फ़ायदा भी नज़र आया.... लेकिन कुछ ही दिनों बाद पुनः भयंकर कष्ट होने लगा। उन्हें स्वयं लगने लगा था.... कि यह रोग अब प्राण लेकर ही जाएगा।

एक रात अचानक मुझे स्वप्न आया कि जो कष्ट भाईजी भोग रहे हैं, वह वास्तव में मेरा है और उन्होंने मुझे बचाते हुए उस कष्ट को अपने ऊपर ले लिया है। मुझे जानकर बहुत दुख हुआ। अकारण ही कोई व्यक्ति कष्ट भोग रहा है और मैं, जिसका कष्ट है, आराम से दिन गुज़ार रहा हूं। सुबह होते ही मैं उनके पास पहुंच गया।

'मुझे लगता है जो कष्ट आप भोग रहे हैं.... वह वास्तव में मेरा है.... आपने इसे अपने ऊपर ले लिया है।' मैंने उनसे कहा।

वे हंसे।

'आपके पास कोई दूसरा काम तो है नहीं.... बस बैठे बैठे अनर्गल सोचते रहते हैं।' उन्होंने झिड़क दिया।

'मैं.... जो कह रहा हूं.... वह झूठ नहीं है.... आप जानते हैं मैं झूठ नहीं बोलता' मुझे भी गुस्सा आ रहा था।

उन्होंने देखा कि मैं वास्तव में गम्भीर हूं तो मुझे समझाते हुए बोले–

'बाबा, आप तो जानते हैं.... क्या ऐसा संभव है कि कोई व्यक्ति दूसरे का कष्ट अपने ऊपर ले ले?'

'मुझे .... आप बहला रहे हैं?' मैंने उलटे पूछा तो अबकी बार वह चुप हो गये।

'अगर ऐसा है भी.... तो क्या हम अलग अलग हैं.... आप और मैं क्या एक नहीं हैं?'

उनकी इस बात का मेरे पास कोई जवाब नहीं था। मैं केवल प्रार्थना कर सकता था श्रीकृष्ण से कि वह इन्हें कष्टों से मुक्त करें।

....

12.

बंद मुठ्ठी की रेत की मानिन्द वक्त गुज़रता जा रहा था। लोगों के जत्थे के जत्थे ईश्वर बनने की होड़ में मुझसे बहुत आगे निकल गये थे। मैं अकेला खड़ा था। मुझे ईश्वर से पहले एक अच्छा इन्सान बनना था। अच्छा इन्सान, जिसे सब प्यार करें। जो सबका हो। जिसका अपना कोई निजी

स्वार्थ ना हो। मुझे लग रहा था मैंने कितना जटिल कार्य अपने लिए चुन लिया है। आज मेरा कितना भी नाम हो गया हो। देश विदेश में कितना भी यश फैल गया हो.... एक दिन सब भुला दिया जाएगा.... नहीं भी भुलाया गया तो भी मुझे क्या फर्क पड़ने वाला था। पिछले जन्म में मैं क्या था.... जाने मेरा कितना नाम हुआ होगा.... सब कुछ मिट गया स्मृति पटल से .... फिर नये सिरे से शुरू हुई एक जीवन यात्रा। जाने कितने संगी साथी बिछुड़े.... कितने ही आकर जुड़े.... और भी आगे जाने कितने मिलेंगे मुझसे.... कितने पीछे छूट जाएंगे।

गठिया ने अब मेरे शरीर को जकड़कर रख दिया था। चलना फिरना मुश्किल होता जा रहा था। ऋषिकेश में भाईजी का कार्यक्रम था। साथ में मुझे भी लिवा लाया गया। संत जी महाराज का भी संयोगवश उन्हीं दिनों वहीं आना हुआ और नियमित रूप से उनके प्रवचन होते जा रहे थे। मैं वहां तक जाने में विवश था.... कमरे में पड़े पड़े कान लगाये.... उनकी आवाज़ सुनने का जतन करता रहता था। एक दिन झुंझलाहट आई तो वहां जाने का विचार आया। नव नियुक्त परिचारक को जब मैंने अपना मंतव्य बताया तो वह हंसा।

'आप कैसे जा सकते हैं.... आपके पांव चलने लायक हैं क्या?'

मैं उम्मीद कर रहा था, वह कहेगा, 'आइये मैं पकड़कर आपको ले चलता हूं.... मेरा सहारा लेकर आप उठिये ....' लेकिन नहीं, उलटे उसने व्यंग्य बाण छोड़ते हुए मेरी विवशता का मज़ाक बनाना चाहा।

'भैया.... मैंने जाने का तय कर लिया है....' मैंने कहा ।

'तो जाइये.... आपको रोकता कौन है.... आप समर्थ हैं.... रास्ता भी आपको मालूम है....' कहता हुआ वह कमरे से बाहर चला गया।

नया व्यक्ति था। किसी साधु संत की सेवा करने का ना तो उसे अनुभव था और ना ही उसकी इच्छा थी। बस, किसी ने मेरे पास नियुक्त कर दिया तो समय काटने लगा था।

मैंने भी अब तो जाने का दृढ़ मानस बना ही लिया। सहारे के लिए मैंने

एक लकड़ी ली और पूरी शक्ति लगाकर चल दिया। प्रवचन स्थल अधिक दूर तो नहीं था, लेकिन नज़दीक भी नहीं था। भीषण दर्द के साथ कदम बढ़ाते हुए धीरे धीरे मैं आखिरकार वहां जैसे तैसे पहुंच ही गया। पहुंचा भर ही था कि पसीने से लथपथ होकर वहां धड़ाम् से गिर पड़ा। सब लोग दौड़कर आ गये। भाईजी और संत महात्मा को जैसे ही मेरे आने की खबर मिली, वे भी दौड़े आये।

'यह क्या.... आप कैसे आ गये यहां तक....?' भाईजी ने गुस्सा दिखाते हुए कहा।

मैं अब तक संभल कर बैठ गया था।

'क्यों.... क्या .... आपके प्रवचन मेरे सुनने लायक नहीं हैं?'

'वो तो ठीक है.... लेकिन अपनी हालत तो देखिये!'

भाईजी ने कहते हुए मुझे सहारा दिया। तब तक अन्य लोग भी कुर्सी लेकर आ गये थे। मैं बैठा उस पर और प्रवचन सुनने लगा।

कार्यक्रम के बाद भाईजी और संतजी महाराज मेरे साथ ही मेरे कमरे तक आये।

'जब भी आपका मन करे– प्रवचन सुनने का....तो बता दिया करिये.... आपको ले जाने की व्यवस्था कर दी जाएगी.... लेकिन स्वयं चलकर आने का प्रयास मत करियेगा....' संत जी महाराज ने कहा।

तब तक परिचारक को पूरी घटना का पता लग चुका था और उसे यह भी मालूम हो गया कि भाईजी और संतजी की नज़रों में मेरा क्या स्थान है।

वह रोता हुआ मेरे चरणों में गिर पड़ा।

'मुझे क्षमा कर दीजिए.... मैंने बहुत गलत कार्य किया' वह कहता जा रहा था.... बार बार।

'तुमने कोई गलत कार्य नहीं किया.... अगर तुम ऐसा नहीं करते तो मेरा विश्वास ही कहां से जागता.... हिम्मत कैसे आती.... अब मुझे मालूम हो गया है कि मैं चल फिर सकता हूं.... भविष्य में प्रवचन स्थल तक चल कर ही जाऊंगा.... ।' मैंने कहा तो भी उसे चैन नहीं पड़ा। बस क्षमा मांगता रहा। आखिरकार सहारा देकर ले जाने को मानने पर वह शांत हुआ।

अगले कुछ दिन, उसके साथ मैं प्रवचन स्थल गया भी, लेकिन इससे जोड़ों में दर्द और बढ़ गया। सबके कहने पर आखिरकार जाना बंद कर दिया। अब कमरे में बैठे बैठे ही समय गुज़ारता था। उस दिन तेज़ बारिश होने लगी थी। पानी गिरने के साथ साथ तेज़ हवा भी चलने लगी। मैं बाहर बरामदे पर बिछे एक तख्त पर बैठा था। घुमड़ते काले बादलों के बीच से जैसे श्री कृष्ण स्वयं नीचे उतर आये। उनका उत्तरीय हवा में लहरा रहा था। अलकें भी झूल रही थीं। मैं एकटक उनकी ओर देखने लगा। उनकी छवि को जितना निहारता था उतनी ही वह निखरती जा रही थी।

मैंने पीछे मुड़कर देखा, सावित्री बाई खड़ी थी। मैंने इशारा करके कलम और कागज़ लाने को कहा। उसे भी तुरंत तो कुछ सूझा नहीं। उपलब्ध 'पॉकिट डायरी' और एक 'पैन' उसने मेरे समक्ष रख दिया। मेरे पास भी समय कहां था। मैंने तुरंत उसे उठा लिया और शुरू हो गया। श्रीकृष्ण लिखवा रहे थे और मैं लिख रहा था। छोटे छोटे पत्रों में और फाड़ फाड़ कर फर्श पर रखता जा रहा था और सावित्री बाई उन्हें उठा उठाकर इकट्ठा करती जा रही थी। जाने कितना समय गुज़र गया। मुझे स्वयं नहीं पता मैंने क्या लिखा। श्रीकृष्ण की अद्भुत मनोहारी छवि का वर्णन वह स्वयं ही करने में समर्थ थे, मैं तो बस माध्यम बन गया था और वह भी अचानक। बाहर बारिश अब भी हो रही थी। तब ही एक तेज़ हवा का झौंका आया। सावित्री बाई ने अपने वस्त्र सम्भालने के लिए अपने हाथ उपर उठाये कि सारे छोटे छोटे पन्ने बाहर की ओर उड़ गये। कुछ कहीं गये, कुछ कहीं। दो टुकड़े ही वह पकड़ पाई। एक क्षण में ही सब घट गया। सावित्री बाई को भी समझ में नहीं आया यह क्या हो गया है। दो बचे हुए कागज़ उसने मेरी ओर बढ़ा दिये। मैंने उसे पास बुलाया। कागज़ उसके हाथ से लिए और मुस्कुराकर उसे जाने को कह दिया।

सावित्री बाई को भी लगता था, वह अब अधिक रुक नहीं पावेगी। शायद उसकी रुलाई फूटने वाली थी। वह अब अधिक बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी। उसे

दुख हो रहा था, मैंने जो कुछ लिखा, सब मिटटी और पानी में जाकर धुल गया था। वह चली गई। बारिश अब भी हो रही थी कि अचानक एक चिड़िया पानी से बचने के लिए कहीं से आई और मेरे सामने बैठकर चहचहाने लगी। जैसे कुछ कह रही थी। जैसे कुछ चाह रही थी। मेरे पास तो उस समय, बस बचे हुए दो छोटे छोटे कागज़ के टुकड़े थे। मैंने उन्हें ही उसकी ओर उछाल दिया। जैसे वह भी यही चाहती थी। उसने उन्हें अपनी चौंच में पकड़ा और फुर्र से बरसते पानी में भी जाने कहां चली गई।

श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे, उनकी जिस लीला का वर्णन मैंने कागज़ पर लिखा था, कोई पढ़े और इसीलिए कोई न कोई कारण उपस्थित कर उन्होंने उन तमाम कागज़ों को अपने पास वापिस मंगा लिया।

कुछ ही दिनों में मेरी तबियत ठीक हो गई। मैं चल फिर सकता था। संत जी महाराज वापिस चले गये। मैं अब नियमित रूप से भाईजी के साथ प्रवचन स्थल पर जाने लगा था। अचानक ही एक ऐसा क्रम बन गया कि भाईजी के प्रवचन के बाद मेरा प्रवचन होने लगा। मेरे पास कहने को बहुत लम्बी चौड़ी बातें नहीं होती थीं। मैं तो बस श्री कृष्ण से सम्बन्धित लिखी पढ़ी बातें और उनसे जुड़ी घटनाओं को ही अपनी भाषा में बोल देता था। सीधी सादी शब्दावली होती थी। लोगों को यह ढंग भाता गया और मेरे सम्भाषण के प्रति लोगों में रुचि और उत्सुकता बढ़ती गई। श्रोताओं को लगता था मैं भारी भरकम शिक्षा नहीं देता, उपदेश नहीं देता, बस घटनाओं को आम व्यक्ति की भाषा में उनके सामने रख देता हूं। कई दिनों तक निरंतर यह क्रम चलता रहा।

एक दिन शाम को जब मैं प्रवचन स्थल जाने के लिए तैयार होकर बाहर आया ही था कि भाईजी सामने पड़ गये।

'कहीं जा रहे हैं?' उन्होंने पूछा।

मुझे आश्चर्य हुआ! उन्हें पता है इस वक्त मैं कहां जाता हूं।

'आपको तो पता है.... इस वक्त....'

'हां, वो तो है.... लेकिन आपको शायद याद नहीं.... आप यहां आये थे, किसी और काम से.... और लग गये किसी और काम में.... ।'

'मैं आपका आशय नहीं समझा ' मुझे अब भी आश्चर्य हो रहा था।

'देखिये....संक्षेप में बताता हूं.... आपको तय करना होगा कि आप धर्म प्रचारक या उपदेशक बनना चाहते हैं या श्रीकृष्ण प्रेम के रस सागर में निमज्जन करना चाहते हैं?' भाईजी ने सीधे लफ़्जों में अपनी बात कह दी।

'आप क्या चाहते हैं?' मैंने उन्हीं से पूछा क्योंकि उनकी आज्ञा ही मेरे लिए सर्वोपरि थी।

'आप अपनी चाह बताईये।' भाईजी ने मुझ पर ही फिर अपनी बात रखदी।

'आपका आदेश ही मेरा चाहना है।'

'फिर सुनिये.... मैं तो आपको श्रीकृष्ण प्रेम से परिपूर्ण उस दिव्य जीवन में डूबा हुआ देखना चाहता हूं.... जिसका अनुभव मात्र ही अद्‌भुत है।' कुछ रूककर वह फिर बोले 'हां, प्रचारक या उपदेशक बनने में आपको खूब ख्याति मिलेगी.... प्रतिष्ठा मिलेगी.... लोगों को इससे लाभ भी होगा.... लेकिन आपको श्रीकृष्ण नहीं मिलेंगे.... पूर्ण शांति नहीं मिलेगी।'

'....तो कहिये.... अभी इसी वक्त से मैं मौन व्रत ले लेता हूं।' मैं ऐसा कहकर वहीं बैठ गया।

'नहीं, अभी.... नहीं.... अभी तो आपकी प्रतीक्षा हो रही होगी.... आप मेरी बात पर विचार करना।' कहकर भाईजी चले गये और पीछे पीछे मैं भी।

पूरे रास्ते मैं सोचता रहा, भाईजी ने किस तरह मुझे भटकने से बचा लिया। मैं अनजाने ही अपना रास्ता छोड़ बैठा था। सच में, मैं धर्म प्रचारक बनने तो आया भी नहीं था और ना हीं मैंने कभी चाहा था कि मुझे खूब ख्याति मिले। मैं लोगों के बीच लोकप्रिय हो जाऊं। मैं तो सांसारिक जगत् से दूर रहकर श्री कृष्ण की लीलाओं में अपने को रमाते रहना चाहता था। उनकी कृपा का आकांक्षी बनकर उनके लोक में प्रवेश कर जाना चाहता था। फिर अचानक एक प्रचारक

की भूमिका में मैं चलने लगा। इससे तो राजनीति भी बुरी नहीं थी.... मैं तो जम भी गया था और जल्दी ही कोई पदवी भी पा ही जाता। मुझे तो सहज ही समर्थक और पथ प्रदर्शक भी मिल ही गये थे।

सोचते सोचते मैं सभा स्थल तक पहुंच गया। उस शाम मैंने अपना अंतिम प्रवचन दिया और इसके आखिरी होने की घोषणा भी करदी। लोगों के लिए यह अप्रत्याशित था। इसके पीछे कुछ लोग राजनीति देख रहे थे, तो कुछ मेरे स्वास्थ्य के प्रति चिंता प्रगट करने लगे। लोगों का मत था कि केवल भाईजी ही, अगर चाहें तो मेरे इस निर्णय को बदल सकते हैं। वे इसके लिए तैयार होने लगे कि भाईजी के साथ इस विषय में चर्चा की जाये। उस दिन प्रवचन भी संक्षिप्त सा ही रहा था। उपस्थित लोग चुपचाप, बिना किसी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के, कार्यक्रम की समाप्ति पर चले गये।

कार्यक्रम के बाद मैंने मन ही मन निश्चय किया कि गोरखपुर पहुंच कर मैं मौन व्रत ले लूंगा।

भाईजी के पास भी यह ख़बर पहुंच गई कि मैंने प्रवचन नहीं करने की घोषणा कर दी है। वे इस पर बोले कुछ भी नहीं और इस तरह व्यवहार करते रहे जैसे कहीं कुछ भी अप्रत्याशित नहीं घटा है।

'गोरखपुर पहुंच कर मैंने काष्ठ मौन लेने का निश्चय किया है।' मैंने अवसर पाकर भाईजी को अपने मन की बात बता दी। सुनकर वे मुस्कुरा दिये। वे ज़ाहिर करना नहीं चाहते थे कि उनकी किसी बात को लेकर मैंने ऐसा तय किया है। मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में खड़े रहने पर उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊपर उठा दिए और कहा, 'गोरखपुर चलकर बात करेंगे।'

कुछ लोग, जिन्हें लगता था भाईजी मुझे फिर से प्रवचन करने के लिए मना लेंगे, उनके पास पहुंच गये। उन्होंने पूरी बात ध्यान से सुनी लेकिन जवाब में केवल इतना कहा 'बाबा तो यूं ही खेल करते रहते हैं.... आप लोग धीरज रखो– सब अच्छा होगा।'

भाईजी जैसे 'कल' को पढ़ रहे थे और जान रहे थे कि क्या होने जा रहा है।

कुछ दिनों बाद हम लोग गोरखपुर आ गये। जाने कैसे वहां भी यह खबर फैल गयी कि मैं जल्दी ही मौन लेने जा रहा हूं। मुझसे मिलकर स्थिति की जानकारी लेने वालों की लिस्ट लम्बी होती जा रही थी। सबसे मिलकर वास्तविकता समझाने का समय निकालना मेरे लिए मुश्किल था। इसी बीच संत जी महाराज मुझसे बार बार अपने साथ चलने और उनके कार्य में सहयोग देने के लिए ज़िद कर रहे थे। उनका मानना था कि मेरा कार्य अब उनके साथ रह कर भगवत् प्रचार का ही होना चाहिए। जिस उद्देश्य से उन्होंने मुझे गोरखपुर भेजा था, उनकी दृष्टि में अब वह समाप्त हो गया था। पुस्तक तैयार हो चुकी थी। मैं बड़े असमंजस की स्थिति में पहुंच गया था। संत जी महाराज के प्रति मेरे मन में बड़ी श्रद्धा थी और उनके कहे को टालना मेरे लिए असंभव ही था। इधर भाईजी से भी संबंध इस कदर प्रगाढ़ हो चुके थे कि उनके बिना जीवन की कल्पना करना भी मुझे बेचैन कर देता था। नित्य उनसे मिलने का व्रत, उनके आसपास बने रहने का निर्णय और उन्हें गुरू मान लेने का निश्चय, मुझे संत जी महाराज के साथ जाने के लिए तैयार होने में सबसे बड़ी बाधा बन रहे थे। मैंने सारी मानसिक स्थिति भाईजी के समक्ष रख दी।

'अगर आप गुरू आज्ञा की बात करते हैं तो वह तो आपको कहीं भी जाने के लिए नहीं कहती.... आप यहीं बने रहे.... हमारे पास.... सबकी यही इच्छा है।' भाईजी का विचार एकदम स्पष्ट था।

संत जी महाराज को भाईजी ने ही कहलवा दिया कि 'अभी तुरंत तो मेरा उनके साथ जाना संभव नहीं हो पावेगा.... बाद में देखेंगे।'

संत जी महाराज को यह उत्तर रुचा नहीं और गोरखपुर से रवाना होते समय अंतिम क्षण तक वह उम्मीद करते रहे कि मैं उनके साथ चला चलूंगा। अंततः उन्हें निराश होकर जाना पड़ा। मुझे भी अच्छा नहीं लग रहा था, लेकिन मैं जैसे भाईजी के मोहपाश में जकड़ गया था और उनकी आज्ञा के बिना कुछ भी करना मेरे वश में नहीं रह गया।

....

13.

स्वाभाविक था, मौन व्रत लेने के बाद मेरी दिनचर्या वह नहीं रह सकती थी, जो अब तक रहती आई थी। बाहरी दुनिया से एकदम निरपेक्ष, यहां तक कि अपने आसपास से भी विरक्त होकर रहना, शुरू में अजीब लगा था, लेकिन बाद में यह जीवन का अंग बन गया। एक शून्य का निर्माण कर लेना चाहता था अपने चारों

ओर और इसके लिए ज़रूरी था कि ना केवल आंखें कुछ नहीं देखें, बल्कि दिमाग भी सोचना बंद कर दे। मेरा विचार था जब तक आंखों में सांसारिक चित्र बसे रहेंगे, श्री कृष्ण दर्शन नहीं देंगे। जब तक मस्तिष्क में उधेड़ बुन चलती रहेगी, राधा जी का विचार आएगा ही नहीं। मैंने कुछ वक्त के लिए अपने को कुटिया में बन्द करके देखा। एकदम चुप्पी। कुटिया के बाहर सूखे पत्तों के गिरने तक की आवाज़ से जैसे ध्यान भंग हो जाता था। किसी पक्षी के कलरव से लगता था, मुझे कोई बुलाने आ गया है। कोई अपना सन्देश भेज रहा है। मैंने अपने कान बंद कर लिए। खिड़की दरवाज़ों को देखा कि ठीक से बन्द हैं कि नहीं। मैं सिर्फ अपने में कैद होकर रहना चाहता था। चाहता था सिर्फ मेरा 'मैं' ही मेरे साथ रहे। ऐसा इसलिए कि जैसे ही श्रीकृष्ण अवतरित हों, मैं उन्हें 'अपने को' अर्पित कर दूं। इसके अतिरिक्त मेरे पास कुछ होगा भी नहीं अर्पण करने को।

उन दिनों एक रास मण्डली गोरखपुर में आई हुई थी। लोगों के आग्रह पर उनकी ओर से रोज़ाना लीला का मंचन किया जाता था। उनका प्रस्तुतिकरण इतना आकर्षक था कि उनके कार्यक्रम में उपस्थित रहने वालों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। भाईजी के आग्रह पर मैं भी रासलीला देखने जाने लगा। पहले दिन मुझे कोई दिलचस्पी नहीं हुई। निर्विकार भाव से मैं भाईजी के बैठने के स्थान के पीछे बैठा रहा। शरीर से ज़रुर मैं वहां उपस्थित था लेकिन मन और मस्तिष्क से नहीं था।

'क्या बात है.... लगता है आपको रास लीला देखने में रुचि नहीं है?' भाईजी ने मुझे उदासीन देखकर लौटते हुए पूछ ही लिया।

'शायद .... हो जाए बाद में.... अभी तक तो मैं.... अपने को जोड़ नहीं पाया हूं', यह था मेरा उत्तर ।

उस दिन तो हम लौट आये, लेकिन जब अगले दिन फिर गये तो मेरे मन में विचार आया कि अगर वास्तव में ठाकुर बने कलाकार में ठाकुर ने प्रवेश कर लिया है तो वह आज मेरे मन में जिस गीत का ख्याल आये वह वही गाए। कुछ देर की शुरूआती भूमिका के बाद, आखिरकार मेरे आश्चर्य का ठिकाना ना रहा जब मैंने देखा वही मेरा सोचा गीत ठाकुर द्वारा गाया जा रहा है। फिर मैंने एक और परीक्षा लेने के लिए मन में संकल्प लिया कि आज ठाकुर और श्रीजी स्वरूप बने कलाकार मेरी पसंद की शैली में ही अभिनय करें। जाने कैसे भगवान भी

आज मेरी बात सीधे दोनों कलाकारों को बताते जा रहे थे, वास्तव में दोनों ने उसी अन्दाज़ में अभिनय किया और वह भी इतना जानदार कि वहां बैठे लोग वाह वाह कर उठे। अब मुझे विश्वास हो गया ठाकुर और श्रीजी बने कलाकारों में कोई ख़ास बात है। उनके प्रति मेरे मन में आदर का भाव जागा। उनका कार्यक्रम देखकर अच्छा लगा।

कार्यक्रम की समाप्ति के बाद मैं अपनी कुटिया की तरफ आ गया और आराम करने की इच्छा से लेट गया।

रासलीला के सभी कलाकार कार्यक्रम की समाप्ति के बाद, जहां उन्हें ठहराया गया था, चले जाते थे। ठाकुर और श्रीजी बने कलाकारों को ले जाने के लिए अलग से एक बग्घी की व्यवस्था की गई थी। वे उस पर सवार होकर ही जाते थे और पूरी साज सज्जा के साथ ही जाते थे। जिन पथों से वे गुज़रते थे, लोग खड़े होकर उन्हें प्रणाम करते। कुछ भेंट देते और कुछ कौतूहल की दृष्टि से देखकर रह जाते थे।

अगले दिन कार्यक्रम की समाप्ति के बाद श्रीजी बना कलाकार मुझसे मिलने के लिए मेरी कुटिया में आ गया। मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ फिर भी उससे मिलने की खुशी में मैं स्वयं बाहर आकर उसका अभिवादन करने से अपने को रोक नहीं सका। बैठने के लिए उसे आसन देने के बाद मैंने उसकी पूजा की। चरण पखारे। इस बीच ठाकुर स्वरूप बने कलाकार बग्घी में बैठ गये थे और उन्हें श्रीजी की प्रतीक्षा करना अच्छा नहीं लग रहा था। एक दो बार किसी को उन्होंने बुलवाने भी भेजा होगा, लेकिन वह व्यक्ति मेरे साथ श्रीजी को देखकर, कदाचित संकोचवश, अपनी बात कह नहीं पाया। थोड़ी देर बाद श्रीजी भी बग्घी में बैठकर चली गई।

उनके जाने के बाद किसी ने मुझे बताया कि ठाकुर बने कलाकार श्रीजी के मेरे पास चले आने से प्रसन्न नहीं थे और कह रहे थे 'बाबा क्या दे देंगे.... श्रीजी को' मुझे बहुत गुस्सा आया। मुझे और तो कुछ सूझा नहीं, बस मैंने मन ही मन तय कर लिया कि अब जब भी अवसर आया मैं ठाकुर बने कलाकार को एक चपत लगाऊंगा।

संयोगवश दुपहर को भाईजी को किसी काम से उस भवन में जाना पड़ा,

जहां कलाकार ठहरे थे। मैं भी उनके साथ हो लिया। एक गाड़ी में भाईजी तथा उनके कुछ पारिवारिक मित्र थे तथा दूसरी में मैं अन्य साथियों के साथ बैठा था। ज्यों ही हमारी गाड़ी उस भवन के द्वार पर पहुंची, मैंने देखा ठाकुर स्वरूप बने कलाकार ने हमारी गाड़ी का दरवाज़ा खोला और मेरी अगवानी की। मुझे हाथ पकड़कर अन्दर ले जाने की कोशिश में वह मेरे सामने खड़े हो गये।

'पहले आप मेरे एक चपत लगाईये।'

जैसे ही उन्होंने मुझसे यह कहा, मैं चकित रह गया। श्री कृष्ण ने अपना काम कर दिया था। मैं केवल उसे देखता रह गया और अपने आप ही श्रद्धावश मेरे दोनों हाथ जुड़ गये। मुझे अपनी भूल का अहसास हो गया था। कलाकार ने अपने हाथ से मेरा हाथ पकड़ा और हलके से अपने गाल में एक चपत लगवाली। आसपास खड़े सब लोग समझ ही नहीं पा रहे थे कि यह क्या और क्यों हो रहा है। तुरंत मैंने स्थिति को सम्भालते हुए भवन में प्रवेश करने के लिए अपने कदम बढ़ा दिये। सब मेरे पीछे पीछे हो लिए।

रास लीला मण्डली के संचालक ने मेरा सभी कलाकारों से परिचय कराया। जहां जहां उन्हेंाने कार्यक्रम प्रस्तुत किए थे, वहीं के अपने खट्टे मीठे अनुभव सुनाये और अपने आगे के कार्यक्रमों की रुपरेखा बताई। मेरे इस आग्रह को उन्होंने स्वीकार लिया कि प्रत्येक वर्ष राधाष्टमी के अवसर पर वे यहां आकर अपना कार्यक्रम दिया करेंगे। लौटते हुए मैं भाईजी के साथ ही एक कार में हो लिया था। जब मैंने बताया कि रास मण्डली ने मेरे आग्रह को स्वीकार लिया है तो उन्होंने भी इस पर प्रसन्नता अभिव्यक्त की। साथ ही उन्होंने अपना विचार बताया कि वह चाहते हैं कि राधाष्टमी का कार्यक्रम लोगों को बिल्कुल अपना कार्यक्रम लगे, ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए। उसका स्वरूप बृहद रहे, उनकी ऐसी इच्छा है।

अगले दिन रासलीला का स्वरूप ही दूसरा था। राधाष्टमी के पर्व के कारण उस दिन राधा जी के जन्म के उपलक्ष में बधाइयां गायी गईं। प्रत्येक पात्र में जैसे देवात्माएं प्रवेश कर गई थीं। उस दिन दूध, दही, घी, शहद, केसर और मेवों से युक्त मिश्रण तैयार किया गया था और उसे ही प्रत्येक व्यक्ति को प्रसाद रूप में दिया गया। श्री कृष्ण और राधाजी के पात्र को अभिनीत करने वाले कलाकारों ने जो भोग स्वीकार किया था, न जाने अचानक, एक कलाकार को

क्या जंची कि उसमें से एक मुठ्ठी भर कर उसने पाण्डाल में ही मेरे मुख पर भी लेप दिया। मैंने तुरंत हाथ से उसे रोकना भी चाहा, लेकिन तब तक देर हो चुकी थी। उसका कुछ अंश मेरे मुख के भीतर चला गया। पहली बार मैंने जैसे दिव्य प्रसाद ग्रहण किया था। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि अब तक मैंने जितनी भी खाद्य सामग्रियां खायी थीं, उन सब में यह श्रेष्ठ स्वादयुक्त सामग्री थी। मैंने सहज रूप में ही पास खड़े श्री चिम्मनलालजी को बची हुई सामग्री पकड़ा दी। चिम्मन लाल जी खाने पीने के मामले में बड़े नियम के पक्के थे। वे स्वयं पाकी थे तथा डोल जल का ही उपयोग करते थे। उस समय जैसा माहौल बन गया था उसमें वह भी मेरे द्वारा दी गई खाद्य सामग्री को अस्वीकार नहीं कर सके। उन्होंने उसे तुरंत मुख में रख लिया।

होने को तो यह सब एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार हो गया था लेकिन कुछ छिद्रान्वेषण करने को तत्पर लोगों को यह रुचा नहीं। उन्होंने इसे विवाद का रूप दे दिया।

'गज़ब हो गया.... बाबा ने जूठा खा लिया.... इतना ही नहीं गोस्वामी जी जैसे महापुरूष को भी खाने को विवश कर दिया।'

यह थी लोगों की प्रतिक्रिया। बात भाईजी तथा संत महाराज तक भी पहुंच गई।

'बाबा ने बहुत गलत किया', यह थी भाईजी की प्रतिक्रिया।

'बाबा को यही नाटक करना था.... तो अब तक ढोंग क्यों करते रहे?' यह थी संत जी की प्रतिक्रिया।

संतजी के विषय में तो मैं निश्चित था कि मेरे उनके साथ ना जाने से ही वे मुझ से नाराज़ रहा करते थे और भाई जी के पास रहकर राधाष्टमी पर्व को इतनी धूमधाम से मनाने पर वे खुश नहीं थे। भाई जी द्वारा अभिव्यक्त विचारों से मुझे बड़ा दुख हुआ।

'चाहे भाईजी, अब आज्ञा दें या न दें.... मैं अब यहां नहीं रहूंगा' मैने निर्णय कर लिया।

तुरंत भाईजी को यह समाचार मिल गया। पहले तो वे अनजान बन गये।

'अच्छा ऐसा कहा.... क्यों.... मैं बात करूंगा।'

बाद में वे स्वयं चल कर संत जी महाराज के पास पहुंच गये और उन्हें मेरे निर्णय के बारे में बताया। उन्हें भी उनके कारण मेरे चले जाने का निर्णय करना अच्छा नहीं लगा। वे तुरंत मेरे पास चले आये।

'देखिये, हमारा कभी भी यह आशय नहीं था कि आप यहां से चले जायें... . बस हम यह चाहते थे और अब भी चाहते हैं कि आप दूसरों के द्वारा दी गई खाद्य सामग्री को ग्रहण करने से बचें और शुद्धता का विचार रखें....,' उन्होंने कहा।

'मैं पूरी सावधानी रखूंगा.... लेकिन अगर आगे भी ऐसा ही भावपूर्ण क्षण आया तो मैं फिर इन्कार नहीं कर सकूंगा' मेरा उत्तर था।

'आप सावधानी रखें.... बस हमारा यही अनुरोध है....' भाईजी ने अब बीच में पड़ना शुरू कर दिया और संत जी महाराज की तरफ मुड़ते हुए कहा।

'जिस तरह आपकी इस विषय में सहज प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई उसी तरह बाबा ने भी भावावेश में प्रसाद ग्रहण कर लिया.... तथा गोस्वामी जी को भी दे दिया.... और वे भी उसे अस्वीकार नहीं कर सके।'

बात यहीं समाप्त समझ ली गई। गोस्वामी जी भी छोड़कर चले जाने का मानस बना चुके थे। भाईजी ने उन्हें भी समझा बुझा कर रोक दिया।

कुछ दिनों बाद रास मण्डली भी चली गई। उनका अन्यत्र कार्यक्रम था। वे अब अधिक रुक नहीं सकते थे।

मुझे अपनी पहली राधाष्टमी का स्मरण हो आया। मैं उन दिनों दिल्ली में था। एक वैष्णव परिवार के यहां मुझे ठहरा कर भाईजी अपने कार्यक्रम में व्यस्त हो गये थे। संयोगवश उस प्रवासकाल में राधाष्टमी आ गई। बिल्कुल सहज भाव से परिवारजन उस दिन सुबह सुबह ही मेरे समक्ष खड़े हो गये और पूछने लगे–

‘आज राधाजी का जन्म दिन है, बाबा आप फलाहार लेंगे या अन्नाहार?’

सवाल बड़ा सीधा सा था । मेरे मन के भीतर जैसे बहुत से घंटे बज उठे। मैंने इस बारे में सोचा भी नहीं था। मन में एक संकल्प ने जन्म लिया कि इस महत्वपूर्ण अवसर को यूं ही नहीं जाने दिया जाना चाहिए। राधाजी, जो श्री कृष्ण की शक्ति थीं, आज के पुनीत दिवस में जन्मी.... अहा, कैसा समय रहा होगा.... सोच सोच कर मैं रोमांचित हो उठा।

‘आज तो मैं थोड़े से बृज कण और दो तुलसी दल ग्रहण करूंगा.... फिर बाद में फलाहार ले लूंगा।’ मेरा उत्तर सुनकर परिवारजन चले गये थे।

सच में, मैंने किया भी यही। बृजकण और तुलसी दल ही स्वयं स्वीकारा तथा वही परिवार के सदस्यों को भी प्रसाद के रूप में दिया। पूरे परिवार ने उस दिन व्रत रखा और मेरे साथ ही फलाहार लिया। पूरे दिन उस दिन मैं प्रायः मौन ही रहा और मन ही मन राधा और कृष्ण की लीलाओं की ही कल्पनाएं करता रहा।

मुझे दूसरी राधाष्टमी का भी स्मरण हो गया। भाईजी उन दिनों रतनगढ़ में ही रहा करते थे। मैं भी उनके साथ ही था। मैया प्रतिदिन सवा लाख नाम जप किया करती थीं और प्रत्येक मंत्र के एवज में गिनती करने के उद्देश्य से गेहूं का एक दाना अलग हटाकर रखती जाया करती थीं। उनके द्वारा साल भर में जितने गेहूं के दाने इकठ्ठे हुए थे, उस दिन उन्हें पीस कर आटा बनाया गया और फिर उस आटे में गाय का घी और शक्कर मिलाकर, उससे हलुआ बनाया गया था और उसे ही राधाजी को भोग के रुप में अर्पण कर दिया गया था। कितना बढ़िया स्वाद था....सोच सोच कर एक बार फिर पूज्य मैया का चेहरा सामने आ जाता था। महान देवी की अमूल्य भेंट। कैसी पवित्र आत्मा। कैसा पवित्र भाव।

बस इसके बाद की राधाष्टमी का तो पर्व ही जैसे हर बार नये जीवन का संचार कर जाता था। तीसरी राधाष्टमी का मुझे ध्यान है.... उस समय मोती जी मेरे साथ थे। उन्होंने गाय के दूध का मावा स्वयं बनाया था और उसके दो पेड़े बनाए थे तथा उन पर ‘श्री राधा’ लिखा था और उन्हें ही प्रसाद के रूप में चढ़ाया था।

ये वे राधाष्टमियाँ थीं जिनमें अन्य लोगों की भागीदारी नहीं के बराबर ही होती थी। उसे मेरी साधना के एक अंग के रूप में ही मनाया जाता था। बाद में तो इसने बृहद रूप ले लिया। लोग, असंख्य तादाद में भाग लेने लगे। भाईजी, उनका परिवार, संत जी महाराज और ना जाने कितने अन्य साधु संत उस अवसर पर आने लगे और सबका उत्साह देखते ही बनता था।

दूसरी राधाष्टमी के अवसर पर मुझे याद है भाईजी को साक्षात् श्री कृष्ण के दर्शन हुए थे। श्री कृष्ण के दर्शन की बात पर मुझे याद आया एक सज्जन कुछ माह पूर्व मेरे पास आये थे और मुझसे कहने लगे–

'भाईजी ने, मैंने सुना है साक्षात् ईश्वर के दर्शन किये हैं.... कोई ऐसी तरकीब मुझे बता दीजिये कि वे मुझे भी भगवान के दर्शन करा दें।'

'तरकीब तो बहुत सरल है.... आप नित्य आधा घंटे के लिए भाईजी के निकट जाकर बैठ जाया करें' मैंने जवाब दिया।

'तो क्या.... इससे....?' वह बोल उठे।

'हां....इतना ही पर्याप्त है.... लेकिन इसमें आपको दो तीन माह भी लग सकते हैं....।'

वे तैयार हो गये। मैंने उन्हें यह भी हिदायत दे दी कि वे अपने मंतव्य के विषय में कभी भी किसी को भी नहीं बताएंगे। भाईजी को तो बिल्कुल भी नहीं। उन्होंने ऐसा ही किया भी। मेरे दिमाग़ से यह बात निकल भी गई थी कि अचानक एक दिन वे दौड़े दौड़े आये।

'मैं तो धन्य हो गया.... मै तो धन्य हो गया' कहते जा रहे थे वे और हांफते जा रहे थे।

मैंने पूछ ही लिया कि आखिर हुआ क्या है? उन्होंने जो उत्तर दिया वह मुझे विस्मित कर देने वाला था।

'आज सुबह जब मैं भाईजी के कक्ष की ओर गया तो चुपके से उनके द्वार पर खड़ा हो गया। मैंने जो देखा, उस पर मुझे अभी भी विश्वास नहीं हो रहा है।

भाईजी कुछ लिख रहे थे और श्री कृष्ण साक्षात् उनके ऊपर झुके हुए उनका लिखा देखते जा रहे थे और मन्द मन्द मुस्कुरा रहे थे। मैं तो अपलक उन्हें निहारता रह गया। अचानक दृश्य पलटा तो मैं दौड़ा दौड़ा आपके पास आ गया।

'बड़े भाग्यशाली हैं आप.... श्रीकृष्ण ने स्वयं दर्शन देकर आपको कृतार्थ कर दिया।'

उनके तो पैर ही जैसे ज़मीन पर नहीं पड़ रहे थे। अपनी बात वह सबको बताने के लिए उतावले हो रहे थे इसलिए तुरंत मुड़कर गायब हो गये।

इससे मेरा विश्वास एक बार फिर पक्का हो गया कि हमारी अपनी सोच हमें ईश्वर से साक्षात्कार भी करा सकती है और उससे दूर भी ले जा सकती है। हम अपनी कल्पना से जिस दृश्य की रचना कर लेते हैं, वही हमारी सोच का परिणाम भी बन जाती है। हम अपने विचारों में नरक की सृष्टि कर लेते हैं तो हमें नरक की यातनाएं नज़र आने लग जाती हैं। इसके विपरीत अगर हम स्वर्ग को गढ़ लेते हैं तो दिव्यानुभूति से अभिभूत होते जाते हैं। अपने को भगवान के नज़दीक पाते हैं।

इन्हीं दिनों भाईजी के साथ एक स्कूल में जाने का कार्यक्रम बन गया था। कलकत्ते की बात है। भाईजी को बांग्ला भाषा पर इतना अच्छा अधिकार था कि वे जब बांग्ला में बोलने लगते थे तो कोई कह ही नहीं सकता था कि कोई ग़ैर बंगाली बोल रहा है। वहीं मंच पर चैतन्य महाप्रभु की एक बड़ी तस्वीर भी लगी हुई थी। भाईजी ने भी अपने भाषण में महाप्रभु के विषय में ही अपने विचार प्रगट किए। उनकी बातों को सुनकर लगा काश! एक बार महाप्रभु की लीलाएं जीवंत हो उठें।

'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि एक बार फिर चैतन्य महाप्रभु की लीलाएं धरा पर अवतरित हो जायें?' मैंने लौटते हुए भाईजी से पूछ ही लिया।

'क्या वे लोग हैं अब....– क्या वैसी परिस्थितियां है.... वैसे भाव हैं लोगों में....?' उन्होंने उलटे मुझसे ही सवाल किये।

'यह मैं नहीं जानता.... लेकिन इतना जानता हूं कि आप में वह सामर्थ्य

है.... कि पुनः इस धरा पर चैतन्य महाप्रभु की लीलाएं रच सकें।'

भाईजी हंस कर रह गये, लेकिन हमारे साथ बैठे एक अन्य व्यक्ति को जाने क्या सूझी। वह भाईजी की ओर मुखातिब हुए और उनसे पूछा–

'एक बात सच सच बताइये.... क्या आप ही चैतन्य महाप्रभु नहीं थे?'

भाईजी की आंखों में एक बार तो बिजली की सी चमक क्रौंधी लेकिन दूसरे ही पल उन्होंने जैसे अपने को संभाल लिया।

'कैसी बातें करते हैं.... कहां मैं और कहां वे!'

उस वक्त तो बात खत्म हो गई लेकिन वे सज्जन जब भी भाईजी से मिलते, वही सवाल करते ....और एक दिन उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहा।

'बाबा– बाबा' कहते हुए वह मेरे पास दौड़े दौड़े आए, 'मैं ना कहता था.... आखिरकार भाईजी ने मान ही लिया.... पिछले जन्म में वे चैतन्य महाप्रभु ही थे।'

मैंने उन्हें शांत किया और समझाना चाहा कि आपको संतुष्ट करने के लिए ही उन्होंने स्वीकार लिया होगा।

'अजी वाह! भाईजी जैसे संत क्या कभी झूठ बोल सकते हैं.... और वह भी मुझ जैसे एक साधारण आदमी के लिए.... कभी नहीं....' उसे मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ और वह चुपचाप चला गया।

वह तो चला गया लेकिन मुझे सवालों के जंगल में खड़ा कर गया।

....

14.

मौसम उस दिन सुबह से ही ख़राब था। रात भर सांय सांय हवा चलती रही थी और रह रह कर दरख़्तों के बीच से चीखती सी गुज़र जाती थी। बादल भी रुई के फाहों से आसमान में बिखरे पड़े थे।

भाईजी की तबियत बिगड़ गई थी। चिकित्सक असहाय से दिख रहे थे।

'मैं कुछ देर के लिए एकांत चाहता हूं' मैंने कक्ष में उपस्थित सभी लोगों से हाथ जोड़कर अनुरोध किया। सभी लोग बाहर चले गऐ। मैंने आगे बढ़कर भाई जी के दोनों हाथ अपने हाथों में ले लिये और उनके सिरहाने रखी कुरसी पर बैठ गया। भाईजी निश्चल लेटे थे और उन्होंने अपनी आंखें बन्द कर रखी थीं। थोड़ी देर तक मैं उनके हाथ को सहलाता रहा।

'कब तक पकड़े रखिएगा?' अचानक भाईजी पूछ बैठे।

मेरे होंठ भिंच गए थे और रुलाई फूट पड़ने को थी।

‘इतने दिनों तक साथ दिया है, तो क्या अब कुछ दिन और नहीं?’ मैं सिर्फ़ इतना बोल सका था।

‘शायद इतना ही साथ था!’ उनका उत्तर था।

‘क्या सचमुच.... मुझे अकेला और असहाय छोड़ जायेंगे?’

‘आप असहाय और अकेले कहां है.... आपके साथ श्री कृष्ण हैं.... आप समर्थ हैं.... सबल हैं.... अब आपको ही तो जहाज को ले जाना है’.... भाईजी कह तो गये लेकिन बोलने के साथ हांफने भी लगे थे।

‘काश, श्री कृष्ण आपसे पहले मुझे बुला लेते!’ मैं सिर्फ इतना कह सका।

भाईजी मुस्कुराये।

‘क्यों ईर्ष्या हो रही है?’

मैं भी मुस्कुराये बिना नहीं रह सका।

‘बात ही कुछ ऐसी है। मैं श्री कृष्ण से प्रार्थना करूंगा ....यह विछोह लम्बा न हो.... हम फिर से एक हो जावें....।’

अचानक भाईजी ने अपना एक हाथ छुड़ाकर मुझे रोका।

‘एक वचन चाहता हूं।’

‘आज्ञा दें।’

‘आज्ञा नहीं.... प्रार्थना है....– सावित्री की मां से पहले आप आयेंगे नहीं.... ।’

मेरी आंखों से आंसू टपक पड़े। सिर स्वीकृति में अपने आप झुक गया। भाईजी को अपनी पत्नी की कितनी चिंता थी, जानकर अच्छा लगा। भाईजी ने

अपना दूसरा हाथ भी मेरी पकड़ से छुड़ा लिया और करवट बदल ली। वे जैसे अब निश्चिंत सो जाना चाहते थे।

मैं उठकर बाहर आ गया। परिजनों, स्वजनों और परिचरों की भीड़ बाहर खड़ी थी और जैसे किसी चमत्कार की उम्मीद कर रही थी।

'भाईजी ठीक हैं?' सब की निगाहों में यही सवाल था।

मैंने हाथ जोड़कर आसमान की ओर इशारा कर दिया। मेरे पास जवाब था भी नहीं।

मेरी परिक्रमा का वक्त हो रहा था। मैं तेज़ कदमों से चलते हुए अपनी कुटिया की तरफ आ गया। तैयार होकर परिक्रमा के लिए जब मैं रवाना हो रहा था मुझे सूचना मिली की भाईजी की तबियत बिगड़ गई है।

'अब अगर वे मुझसे बिना मिले जाना चाहते हैं .... तो उनकी मर्ज़ी।'

परिक्रमा पूरी करने के बाद मैं पुनः भाईजी के कक्ष की ओर चला गया।

चिकित्सकों की आंखों में शून्य था। मैंने आगे बढ़कर भाईजी को स्पर्श किया। शरीर बर्फ की सिल की भाँति ठण्डा अनुभव हुआ। मैंने आंखें बन्द करलीं और अपने दोनों हाथों से सिर को पकड़ कर बैठ गया।

भाईजी का दोहिता जो मेरे पास ही खड़ा था जैसे सब समझ गया। उसने तुरंत गंगा जल उनके मुख में डाला और कुछ पारिवारिक स्वजनों की सहायता से उन्हें ज़मीन पर उतार लिया।

दिशाएं लाल हो गयी थीं। एक क्षण को क्षितिज में जैसे कई सूरज एक साथ चमके थे और फिर अचानक बादलों की कोख में छुप गये। आंसुओं का एक सैलाब, जो फूट पड़ने को तैयार था, अपने पूरे जोश से उफन पड़ा। बिजली की गति से एक समाचार सर्वत्र फैल गया।

'भाईजी नहीं रहे'

एक रथ था जो आसमान की ओर दौड़ा था। एक ज्योति थी जो अनगिनत दीपों में परिवर्तित हो गई थी। धूल का एक गुबार था जो लोगों की आंखों में आंधियों के रूप में भर जाना चाह रहा था। लोग सुबक रहे थे और बिना वज़ह ही इधर से उधर दौड़ते हुए अपने को थका देना चाहते थे। अपने को व्यस्त रखकर अपने को ही भुला देना चाहते थे।

बेसब्र भीड़ के बीच मैं अकेला खड़ा था और आज हर नज़र से अपने को अकेला अनुभव कर रहा था। सवालों के अनगिनत सींखचे मेरे आसपास उग आये थे।

भाईजी के चले जाने से इतिहास का एक अध्याय भी तो समाप्त हो गया था। अब नया पृष्ठ लिखा जाना था। शायद कुछ परिभाषाएं भी बदलें। कुछ मानदण्ड भी परिवर्तित हों। इतना तय था मूल स्वरूप नहीं बदला जा सकेगा। कुछ बरसों तक तो कदापि नहीं।

सवालों के सींखचों के बीच खड़ा मैं सोच रहा था अब मैं कहां से शुरू करूं? अब तक, मुझे हैरानी हुई, यह सोचने का अवसर ही नहीं आया था। अब नियति ने एक दोराहे पर खड़ा कर दिया था। एक तरफ मर्यादाओं की बाड़ थी और दूसरी तरफ गुमनामियों का जंगल। मुझे निर्णय लेना था, किसी एक के चयन का। अचानक मुझे लगा, मेरी पीठ पर जैसे किसी ने हाथ रख दिया हो। स्पर्श भी परिचित सा था। मैंने देखा भाईजी की धुंधली सी आकृति मुझे शांत और आश्वस्त होने का संकेत कर रही थी। मैं बरबस ही मुस्कुरा दिया। मुझे आश्चर्य भी हुआ अपने आप पर कि कैसे इतनी जल्दी मैं अधीर हो गया था!

भाईजी के पार्थिव शरीर के अंतिम क्रियाकर्म के लिए विचार विमर्श चल रहा था। अधिकांश राप्ती नदी के किनारे उनकी समाधि स्थापित करने के पक्ष में थे। ऐसा हो भी जाता, लेकिन अचानक उन्हें समाधि के दो सौ गज के दायरे में मेरे रहने का प्रण ध्यान में आ गया। अगर समाधि राप्ती नदी के किनारे बनाई जाती है, तो स्वाभाविक है मेरे रहने की व्यवस्था भी वहीं करनी होगी। कोई नहीं चाहता था कि मैं गीता वाटिका छोड़कर अन्य स्थान पर चला जाऊं। मैया की ज़िम्मेदारी जो मुझ पर थी। आखिरकार गीता वाटिका में ही उनका अंतिम क्रियाकर्म किया जाना निश्चित हुआ। प्रशासन से इसकी स्वीकृति भी मिल गई।

देखते देखते उनका पार्थिव शरीर राख में परिवर्तित हो गया। एक दिव्य आत्मा वायु में विलीन होकर सर्वत्र व्याप्त गई। अब उनकी बातों, उनकी यादों और उनके कार्यों को याद करना ही हमारे वश में रह जाएगा। चिता की राख और संजोकर रखे गये पुष्प समय समय पर अब हमें उनकी याद दिलाते रहेंगे।

जैसा कि हमेशा होता आया है, दिनचर्या कुछ ही दिनों में पुनः सामान्य हो गई। अब सुबह सुबह स्नान ध्यान करके मैया के दर्शन करता। उनके हाल चाल पूछता और फिर अपना दैनिक कार्यक्रम शुरू करता। यह एक नियम सा बन गया था। मैया भी भाईजी के ना रहने से जैसे टूट सी गई थी। वृद्धावस्था के कारण उनका चलना फिरना तो वैसे ही सीमित था और अब तो एकदम ही नगण्य सा हो गया।

एक दिन जब मैं मैया के पास जाकर बैठा तो वह चुप लेटी छत की ओर ताक रही थी। मेरे आने का उन्हें शायद पता भी नहीं लगा। वह उसी तरह निश्चेष्ट लेटी रही।

'क्या बात है मैया.... लगता है कोई चिंता आपको खाये जा रही है?'

सुनकर मैया का ध्यान मेरी ओर चला आया। उसने बैठने का असफल प्रयास किया और फिर मसनद के सहारे ही आधी लेटी सी कुछ कहने को तत्पर हो गईं।

'कुछ दिनों से मुझे लग रहा है.... आप की अवस्था सहज नहीं है।'

मुझे यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। मैया की चिंता का कारण मैं था।

'क्यों, मैया, आपको ऐसा क्यों लगा?' मैने पूछा।

'एक तरफ मैया भी कहते हो.... और दूसरी तरफ मैया से अपने मन की बात छुपाते भी हो....।'

मैं चुप.... मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था। मैं गर्दन झुका कर बैठा रहा। कुछ

क्षण ऐसे ही गुज़र गये।

'बताना नहीं चाहते हैं– तो कोई बात नहीं.... आपको व्यग्र देखकर मन उद्विग्न हो जाता है' कहकर मैया ने करवट बदल ली।

निस्सहाय मैया के कमरे में अचानक एक दिव्य प्रकाश जैसे भर गया। कानों में अचानक असंख्य घंटियां बजने लगीं। दूर कहीं शंखनाद हो रहा था और अलौकिक सुगंध चारों तरफ फैल रही थी। मैंने देखा लेटी हुई मैया के शरीर से साक्षात् चार भुजा वाली देवी उठ खड़ी हुई है और उसकी आभा से मेरी आंखें चुंधिया गई।

'मां जगदम्बा.... मेरा प्रणाम स्वीकार करो', बस इतने बोल मेरे मुंह से निकल सके। मैं साष्टांग धरती पर लेट गया। तेज़ हवा चलने लगी थी। मां जगदम्बा की आकृति अब कमरे में नहीं थी। मैया ने आंखें बंद कर रखी थीं लेकिन उनके चारों ओर स्थापित आभा मण्डल अभी भी बना हुआ था। खड़े होकर मैंने मां के चरण स्पर्श किए और बाहर आ गया। मेरे पांव धरती पर नहीं पड़ रहे थे। पूरा शरीर रोमांचित होकर जैसे उड़ना चाह रहा था। अपनी कुटिया में आकर मैंने किवाड़ बन्द किये और आंखें बंद कर आसन में बैठ गया। मां जगदम्बा की छवि को मन कर रहा था, हमेशा हमेशा के लिए आंखों में कैद कर लूं। मन में बसा लूं। किसी से कहूंगा तो शायद कोई विश्वास ना करे।

अगले दिन सुबह जब मैं मैया के दर्शन के लिए गया तो वह तैयार होकर कुर्सी पर बैठी थी और एक परिचारिका उनके पांवों को सहला रही थी। मुझे आया देखकर मैया ने परिचारिका को जाने के लिए कह दिया। परिचारिका ने तेल की कटोरी उठाई और बाहर निकल गई। अब कमरे में हम दोनों के अतिरिक्त कोई नहीं था।

'कल तो आपने मुझे धन्य कर दिया.... मैया.... मुझे धन्य कर दिया।' मैंने मैया के चरण स्पर्श किए और उनके पास ही ज़मीन पर बैठ गया। मेरी आंखों से ना जाने क्यों अश्रुओं की अविरल धारा बहती जा रही थी। मैया ने मुझे हाथ से मना किया और फर्श से उठ जाने का संकेत किया। शायद द्वार पर कुछ लोग खड़े थे और एकटक भीतर की ओर निहार रहे थे। मैं सब समझ गया और बाहर आ गया।

कुछ परिन्दे अचानक एक पेड़ से उड़े और एक अनजानी सी आवाज करते हुए दूसरे पेड़ पर जा बैठे। शरद् ऋतु का आगमन हो चुका था। पौधों पर नये नये पुष्प खिल रहे थे।

कुछ दिनों से मेरे मन में एक सवाल घर किये बैठा था और बार बार मुझे व्यथित किए जा रहा था। मैंने संन्यास लेने के बाद भी एक गृहस्थ के साथ अपने को बांध लिया.... लोग क्या सोचते होंगे? हो सकता है कुछ मुझे सुविधा भोगी भी समझते हों। कुछ को मेरा जीवन एक नाटक सदृश्य भी लगता होगा। मैं इसी उधेड़बुन में दिन काट रहा था कि अचानक मैया जैसे सब ताड़ गई और मेरे मन के द्वन्द को समझते हुए उसने हल भी प्रस्तुत कर दिया। साक्षात् जगदम्बा के रूप में प्रगट होकर।

उस दिन, मैंने अपने को बहुत हल्का महसूस किया। मेरे मन में एक सवाल उठा–कि आखिर मानव चेतना का उद्भव कहां से है.... क्या है ऊर्जा की इकाई.... और ये अध्यात्म क्या है....? मेरा मानना था कि अध्यात्म का अंतिम उद्देश्य है सभी को प्रेम करना.... सभी के प्रति दयालु बने रहना। आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली व्यक्ति ही दर्द को सकरात्मक ऊर्जा में तब्दील कर सकता है। हममें से हरेक में शक्ति के पुंज स्वरूप ईश्वर छुपा होता है। सकरात्मक ऊर्जा उसे जाग्रत करती है। नकारात्मक ऊर्जा उसे विलुप्त कर देती है।

प्रोत्साहन की एक एक बूंद को.... मैं सबका प्रिय बनने की अपनी प्यास को बुझाने के लिए हमेशा हमेशा इस्तेमाल करता रहूं– ऐसा मेरा उद्वेश्य था।

भाईजी का दिव्य स्वरूप और मां का जगदम्बा के रूप में दर्शन देना, जैसे मुझे सुस्पष्ट लक्ष्य प्रदान करने की ओर बढ़ने के संकेत थे। मुझे लगा अगर ऐसा नहीं होता तो कदाचित् मैं उद्वेश्यहीन होकर भटकने लग जाता। कहीं दूर एकान्त में अपने से जूझता रहता। यहां इस वातावरण में एक गृहस्थ को गुरू बनाकर मैंने ग़लत नहीं किया है। लोगों की सोच के प्रति मुझे लापरवाह बने रहने में ही सुविधा दिखी।

....

15.

वे चलते थे तो उनके पीछे एक आभा मण्डल भी चलता था। उनकी चाल में एक ठसक थी और उठने बैठने के तरीके में था एक राजसी अन्दाज़। उनके बोलने के अन्दाज़ में भी एक सलीका था। सदैव वे नपे तुले शब्दों में ही बातचीत करते थे। उनकी बड़ी बड़ी आंखों से एक दिव्य प्रकाश जैसे अनवरत झरता रहता था। चालीस पचास लोगों के बीच भी अपने निराले व्यक्तित्व के कारण वे सबसे अलग

ही दिखते थे और अपनी अलग पहचान शीघ्र ही कायम कर लेते थे। अपनी बुलंद आवाज़ में जब वे ध्रुपद गाने बैठते थे तो सभा में उनके आसपास भी कोई नहीं टिक पाता था। वे जब मुझसे मिलने आये तो उनकी उम्र 60 के लगभग रही होगी। कदाचित दो तीन वर्ष ऊपर ही। वे पक्के वैष्णव थे और खाने पीने के मामले में एकदम कठोर नियम वाले। विमला बाई के पति के रूप में मेरा उनसे परिचय कराया गया था। प्रथम मुलाकात में शिष्टाचारवश औपचारिक बातचीत हुई और जाते वक्त उन्होंने मुझसे एकांत में मिलने का वादा ले लिया था। तय हुआ कि समय मिलने पर मैं उन्हें बुलवा लूंगा।

दो तीन दिन गुज़र गये। हमारी मुलाकात सम्भव नहीं हो पायी। तीसरे दिन मुझे उनका विचार आया और तुरंत मैंने उनके लिए सन्देश भिजवाया। मुझे बताया गया कि वे इस समय पूजा कर रहे हैं। करीब दो घंटे उन्हें पूजा करने में लगेंगे। उसके तुरंत बाद वह उपस्थित हो सकेंगे। मुझे भला क्या आपत्ति हो सकती थी। इस बीच मैं अपने अन्य कार्य निपटाता रहा।

दुपहर के एक बज रहे थे, जब मुझे उनके आने की ख़बर दी गई।

'आईये, बल्लभ प्रभु, ... पधारिये' मैंने उन्हें आसन की ओर इशारा करते हुए बैठने को कहा।

प्रत्युत्तर में उन्होंने मुझे प्रणाम किया और बैठ गये। एक बैंत के सहारे वे चला करते थे। जब भी उन्हें बाहर जाना होता वे अपनी बैंत उठाते और चल पड़ते। बैठकर उन्होंने अपनी बैंत को अपने पास ही रख लिया।

'पूजा हो गई आपकी?'

'हां, बाबा, उसे सम्पूर्ण करके ही आपके पास उपस्थित हुआ हूं।'

'बड़ी कृपा है आपकी.... मुझे क्षमा करना.... कार्यक्रम में इस तरह फंसता रहा कि आपको समय ही नहीं दे सका....। हालांकि स्मृति बराबर आपकी बनी रहती थी....।'

'मैं समझ सकता हूं बाबा– आपकी दिनचर्या और आपकी ज़िम्मेवारी से

भला कौन परिचित नहीं है?'

'नहीं–ऐसा कुछ भी नहीं है.... मेरी क्या ज़िम्मेदारी है– कुछ भी नहीं.... साधु को ज़िम्मेदारी लेनी भी नहीं चाहिए। मैं तो निरन्तर चाहता हूं श्रीकृष्ण का ध्यान बना रहे। श्री राधा की कृपा मुझ पर झर झर बरसती रहे! बस।' मेरी आंखें मुंद गईं। मुझे लगा मैं किसी और लोक में ही चला गया हूं और वहां नीले शुभ्र आकाश के नीचे अकेला ध्यान मग्न बैठा हूं। मेरे आसपास कोई नहीं है। दिशाओं से श्री कृष्ण के बांसुरी वादन का मधुर स्वर धीरे धीरे बढ़ता हुआ मेरे कानों तक आ रहा है और मुझे अपने में लपेटता जा रहा है।

'आपको पता है श्रीकृष्ण सर्वत्र व्याप्त हैं! उनकी नज़रों से कुछ भी छुपा नहीं है.... यहां तक की एक पत्ता भी हिलता है तो उनकी मर्ज़ी से। समस्त सृष्टि को अकेले वह संचालित कर रहे हैं।'.... मेरे मुंह से अपने आप बोल फूट रहे थे।

'मैं यह सब नहीं जानता बाबा.... मेरे लिए तो श्रीकृष्ण एक छोटे से शिशु हैं.... उन्हीं बाल गोपाल की सेवा मेरा धर्म है.... मेरी सेवा है। इसी स्वरूप को पूजना मुझे सिखाया गया था– मैंने भी इसे ही सिखाया है.... और मैं चाहता हूं मेरे बाद भी मेरे अपने लोग.... इन्हीं बाल गोपाल की सेवा करें।' बल्लभ जी का जवाब था।

'बिल्कुल ठीक है.... बिल्कुल सही कह रहे हैं, आप.... मैं आपकी साफ़गोई का कायल हो गया.... अच्छा लगा मुझे.... कोई उनके किसी भी स्वरूप को पूज सकता है.... वह स्वतंत्र है.... और इससे उनकी सत्ता में.... उनके स्वरूप में कोई फ़र्क भी नहीं पड़ता है।'

'मैं तो अपनी कहता हूं बाबा.... दूसरों की दूसरे जानें.... मैं तो निरंतर उन्हें ही भजता हूं.... उन्हें ही गाता हूं।' उनके उत्तर से मुझे याद आया बल्लभजी ध्रुपद गायक भी हैं। पखावज भी खूब अच्छा बजाते हैं।

'आपका रियाज़ कैसा चला रहा है?' मेरा प्रश्न था।

'रियाज़– तो मैं क्या बताऊं .... बस जब भी बाल गोपाल कृष्ण नन्दन की कोई लीला.... दृश्य बनकर सामने आ जाती है तो उसे स्वर और राग में पिरोकर

गा लेता हूं। अपने को संतुष्ट कर लेता हूं।'

'बहुत अच्छा– इस लीला गायन का क्या हम भी रस ले पावेंगे?'

वह एकदम जैसे भक्ति रस से भीग गये। बाल गोपाल की अनेक छवियां उनके दृश्य पटल पर जैसे उभर आईं । वे चुप हो गये।

'कल सुबह परिक्रमा के समय .... कैसा रहेगा?' मेरा प्रश्न था।

'जैसा आप आदेश दें....' वह तैयार हो गये।

मैंने अपने परिचारक को बुलवाया।

'देखना भइया .... कल सुबह परिक्रमा के समय.... बल्लभ महाप्रभु का कार्यक्रम होगा।'

परिचारक ने स्वीकृति में सिर हिला दिया। चलने को वे उठे लेकिन फिर बैठ गये।

'बाबा, मन में एक जिज्ञासा है....'

'क्या ?'

'आप अपने पिछले जीवन के विषय में कुछ बताते....!'

'क्या बताऊं मैं.... मैं तो समस्त रूपों में श्री कृष्ण को समर्पित हूं.... मिट्टी के इस शरीर का क्या परिचय दूं.... फिर भी अगर कुछ जानना चाहते हो तो श्री कृष्ण से ही पूछ लो.... वे ही इसका उत्तर आपको दे देंगे– मैने तो अपना सर्वस्व उन्हें ही सौंप दिया है.... वे जिस रूप में चाहें मुझे परिभाषित करें.... मुझे नाम दें– मेरा परिचय दें.... सब कुछ उनका है.... उनके अधिकार क्षेत्र का है.... मेरा तो मेरे पास.... मेरा कहने के लिए कुछ भी नहीं है। कोई परिचय है ही नहीं मेरा.... या कहूं अब कोई परिचय बचा ही नहीं है.... पिछला सब कुछ विस्मृतियों की आंधी ने समेट लिया है।'

उत्तर सुनकर वे चुप हो गये। मेरा अपना विश्वास है कि किसी से भी उसके अतीत के विषय में, अगर वह बताना नहीं चाहे, तो पूछना नहीं चाहिए। अतीत के नाम पर किसी किसी के पास ही दुहराने को होता है। नहीं तो, अधिकांश उसे गुमनामियों के ढेरों में दफ़न ही रहने देना चाहते हैं। इसलिए नहीं कि उसमें कुछ संकोच या शर्मिन्दगी वाले वाकये भी हो सकते हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें बताना, कहना, उनके निजी क्षेत्र में बेवज़ह दखल जैसा होता है। जिस किसी का गौरवशाली अतीत रहा है, उसने बिना किसी के पूछे, उसे सुनाया है। भुनाया है। उसे एक बल की भांति इस्तेमाल किया है।

अगले दिन परिक्रमा के बाद उनका गायन हुआ। गायन क्या कहूं.... जैसे समय को थाम लिया था उन्होंने। हम सब की दिलों की धड़कन उनकी मुठ्ठियों में कैद होकर रह गई थीं। वे हमारी सांसों को नियंत्रित कर रहे थे। उनके हर उतार चढ़ाव के अनुसार हम जैसे जीते थे। ठहर जाते थे, फिर चलने लगते थे। उपस्थित लोगों में शायद ही कोई शास्त्रीय संगीत का जानकार रहा होगा, लेकिन उनके गायन से हर व्यक्ति जुड़ गया था और उसके रस से अपने को सराबोर कर रहा था। इसी का परिणाम था कि जब उन्होंने समय सीमा का पालन करते हुए अपना गायन बंद किया.... सब के मन कर रहे थे.... इतनी जल्दी क्यों.... इतना सा ही क्यों.... आगे क्यों नहीं? मैं भी अपनी थकान भूलकर.... एकाग्रचित बैठा रहा और मुझे भी समय की सीमा का पता ही नहीं लगा।

कोई दो तीन दिन बाद वह वापिस चले गये, उनके परिवार के लोग यहीं मेरे पास थे और उनसे मुझे उनके समाचार मिलते रहते थे।

....

16.

भाईजी के देह त्याग के साथ ही मैंने संकल्प लेकर सभी प्रकार की पूजा अर्चना को तिलांजली दे दी थी। भाईजी को मैंने गुरू पद पर प्रतिष्ठित किया हुआ था और मेरा मानना था कि मैं जो कुछ, जिस प्रकार से पूजा अर्चना करता रहा था वह उन्हीं की प्रेरणा और मार्ग दर्शन द्वारा ही पूर्ण होती थी। अब उनकी अनुपस्थिति में मुझे इनमें कोई सार दिखाई नहीं देता था। कुछ भी था, इसका भान मैंने किसी को भी नहीं होने दिया। जैसे यह मेरा अत्यंत निजी मामला था और जो भाईजी के साथ ही चला गया था।

भाईजी की अलमारी में रखे गये तमाम कागज़ातों को मैया ने मेरे पास भिजवा दिये। वह चाहती थीं कि मैं उन्हें देख लूं। अगर किसी उपयोग के हों तो संभाल कर रखे जायें नहीं तो उन्हें नष्ट कर दिया जाए। मैंने उन्हें देखा। अधिकांशतः हिसाब किताब सम्बन्धी विवरण था। हिसाब किताब भी वैसा जो वे उजागर नहीं करना चाहते थे, केवल अपनी स्मृति के लिए उन्होंने लिख रखा था। मैं इन कागज़ों को, जो भाईजी जैसे संत के हाथों लिखे गये थे, नष्ट होते हुए भी नहीं देखना चाहता था, लेकिन इन्हें बनाये रखने से, उनकी गोपनीयता के खत्म होने की जो संभावना बनी रह सकती थी, उसे भी बचाकर नहीं रखना चाहता था। बहुत सोच विचार कर मैंने आखिरकार इन कागजों को अपने सामने फैलाया, गंगाजल से उन पर लिखे विवरणों को धोया और जब वे लुगदी के रूप में रह गये तो उन्हें अपनी कुटिया के निकट एक गड्ढे में दफना दिया।

कुटिया के भीतर रहने की व्यवस्था का मैंने परित्याग कर ही दिया था। अब कैसा भी मौसम हो, कैसी भी ऋतु हो, मैंने खुले में रहने का निर्णय कर लिया था। मेरे तख्ते के ऊपर छोटे से टिन शेड का जरूर निर्माण कर दिया गया था, वह भी तीन ओर से खुला था। मैं चाहता था, भाईजी की चिता स्थली के दर्शन मुझे लगातार होते रहने चाहिए। मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य यही रह गया था कि मेरा शेष जीवन यूं ही बीत जाए। मैं अपने जीवन में अब रिक्तता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचाये रखना चाहता था।

भाईजी सबके प्रिय थे। सब चाहते थे कि भाईजी की चिता स्थली को शीघ्र ही एक भव्य स्मारक का रूप दे दिया जाए। आखिरकार एक दिन उस स्मारक के निर्माण की प्रक्रिया शुरू करने का वक्त आ गया। समस्त परिवारजन और उनके चाहने वाले उस दिन वहां इकट्ठे हो गये। हर कोई अपनी ओर से श्रद्धा सुमन स्वरूप, एक गिट्टी वहां रखना चाहता था। मैया मेरे पास आई और बोली–

'आप भी चलिये.... हम चाहते हैं पूजा आपके ही द्वारा की जाए ।'

मैं चुप हो गया।

'मैया .... आपको तो मालूम है.... मैंने सभी प्रकार की पूजा अर्चना, अंतिम रूप से, उस दिन कर ली थी.... अब मेरे लिए कोई पूजा, कोई अर्चना, करने को नहीं बची है।'

'आप.... कम से कम एक गिट्टी ही अपनी तरफ से रख कर कार्य का प्रारम्भ कर दीजिये।'

मेरी आंखें छलछला आई। जिस व्यक्ति के साथ इतने बरसों तक हाथ थामें चलता रहा, अब उसकी चिता स्थली पर किसी तरह का निर्माण ....मुझे अपनी रुचि का नहीं लगता था। गर्म हवा भी उनकी भस्म को, उनकी अस्थियों को छुएगी यह सोच सोच कर मुझे तकलीफ होती थी। पूर्ण रूप से सुरक्षित, चारों तरफ से आवृत्त तथा अस्पर्शित ही मैं उन्हें बने रहने देना चाहता था। मेरी आंखों में पसरे शून्य को मैया ने पहचान लिया था।

'चलिये, आप कुछ मत करिये– केवल वहां जाकर खड़े हो जाइये.... ।'

इस पर मैं इन्कार नहीं कर सका। मैया के साथ साथ चलकर चिता स्थली पर आ गया।

वहां और भी बहुत लोग इकठ्ठे थे, एक तरफ गिट्टियों का ढेर लगा था, सब लोग अपनी तरफ से श्रद्धासुमन स्वरूप एक एक गिट्टी नींव स्थली पर रख देना चाहते थे। मैंने सबके चेहरे पढ़े। एक एक की आंखों में झांक कर देखना चाहा, जानना चाहा कि उनके मन में क्या चल रहा है। बहुत कम ऐसे थे जिनकी आंखों में दर्द था और तहे दिल से श्रद्धा अर्पित करने आये थे– गिट्टी फेंकने नहीं। जाने क्यों मुझे अच्छा नहीं लगा कि एक रस्म के रूप में लोग अपनी भूमिका निभा कर चले जाएं। यही कारण था कि मैं इस घटना का चश्मदीद गवाह बनना नहीं चाह रहा था।

'क्या हुआ कोई उलझन है?' अचानक मैंने देखा भाईजी जैसे कहीं से मुझसे कह रहे हैं।

मैंने चारों तरफ निगाह दौड़ाई। पावन कक्ष की छत पर एक आदमकद मूर्ति खड़ी थी। उसका चेहरा मैं नहीं देख पाया। वेश भूषा और कद काठी से लगा जैसे स्वयं भाईजी अवतरित हो गये हैं, मुस्कुराते, प्रसन्नचित्त।

'जब आप जान ही गये हैं.... तो उसका समाधान भी प्रस्तुत करिये....' स्वतः ही मेरे होठों से बोल फूट पड़े।

आदमकद मूर्ति अचानक पलटी। मैंने देखा उसके हाथ में एक कटोरी थी और चन्दन से भरी थी। वह भी इतनी कि उनका हाथ तक चन्दन से भीग रहा था।

बस, मुझे समाधान मिल गया। मैंने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर सबको रोक दिया।

'मेरी एक विनती है....'

सबकी निगाहें मेरी ओर उठ गईं।

'इन तमाम गिट्टियों को शुद्व जल से धोकर और चन्दन लगा कर लगाया जाए.... ।'

मेरा विश्वास था धुलकर और चन्दन से लिपट कर गिट्टी मात्र पत्थर का एक टुकड़ा नहीं रह जाएगी। उसे तब कोई भी फेंकने या मारने का दुस्साहस नहीं करेगा।

'आपकी यह विनती हमें आपके आदेश के रूप में स्वीकार है।'

इस बार मैया ने उत्तर दिया। बाकी लोगों ने सिर हिलाकर और हाथ उठाकर अपनी स्वीकृति प्रदान की।

'मैं अभी जल और चन्दन की व्यवस्था करती हूं', कहकर बाई तुरंत वहां से चली गई।

मेरी निगाहें अपने आप ही पावन कक्ष की छत की ओर उठ गई अब वहां कोई नहीं था। धवल वस्त्रधारी मूर्ति अब जैसे बादल बन गई थी और पूरे बगीचे में फैल गई थी। शायद बारिश हो और सब लोग भीग जाएं। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

स्थान स्थान पर लोग चन्दन घिसने बैठ गये थे। जल के कई कलश लाकर निर्माण स्थल के पास रख दिये गये। लोग बारी बारी से एक गिट्टी उठाते उसे जल से धोते और फिर उस पर चन्दन का तिलक लगाते और उसे निर्माण कार्य में लगे मजदूरों को देते जाते थे। पहले जो कार्यक्रम एक रस्म, एक उन्माद के रूप में शक्ल लेने वाला था, अब एक पूजन–अर्चन की शक्ल में तब्दील हो गया था। देखते देखते स्मारक की नींव का खाका तैयार हो गया बड़ी शालीनता से, बड़ी शांति से। पूरे समय मैया एकचित्त वहां खड़ी रही और सारी गतिविधियों को पूरी सावधानी से देखती रही।

....

17.

पौष शुक्ला नवमी वि.सं. 1969 को जब मेरा जन्म हुआ, तब से कई बार मुझे लगा है जैसे व़क्त तेज़ रफ़्तार से भले ही गुज़रता गया है, लेकिन गुज़रते हुए भी उसने अनेक निशान छोड़े हैं। जैसे एक हिंसक पशु दौड़ते हुए अपने तीखे पंजों और पैने दांतों से घाव करता जाए या एक तेज़ प्रवाह के साथ बहते हुए हम जहां तहां रगड़ खाकर अपने को लहुलुहान कर बैठें, वैसा ही कुछ अनुभव होता रहता है। जब मैं किसी प्राचीन महल या ऐतिहासिक किलों को देखने जाता हूं तो कई बार रोमांच की स्थिति बन जाती है। मुझे इतिहास, एक चित्रकथा से बाहर निकल जीवित पात्रों के बीच खड़ा कर देता है। घोड़ों की टापें, तलवारों की खनखनाहट, ज़िरह बख़्तरों से लिपटे सिपाहियों के भारी बूटों की चहलकदमी, किसी दरबार का भव्य सा दृश्य, रनिवासों में गूंजती–बिखरती मधुर

खिलखिलाहट, द्दडद्दड़ाहट के साथ बंद होते लोहे के बड़े बड़े दरवाज़े, दया की भीख मांगते रोते बिलखते लोगों की आवाज़ें, शान में कसीदे पढ़ते भाटों और कवियों के स्वर, किताबों में पढ़े और फिल्मों में देखे युद्धों का कोलाहल.... सब मुझे गुज़रे कल से रूबरू करा जाते हैं।

ऐसा ही कुछ विशाल मंदिरों और तीर्थ स्थलों पर भी होता है। चमत्कारिक रूप से वर्तमान बदल जाता है। मैं शताब्दियों पीछे लौट जाता हूं। मूर्तियां जीवित होकर चलने फिरने लग जाती हैं। भित्तिचित्रों में कैद आकृतियां पलस्तर झाड़ती हुई जैसे ज़मीन पर उतर आती हैं। आश्चर्य तब होता है जब अचानक कोई एक पात्र स्वयं अपना परिचय देकर आपसे अपना रिश्ता बताने लग जाता है। मेरे साथ तो अमूमन ऐसा हुआ है और ऐसी अवस्था में प्रायः मैं ही अपने को बरसों पीछे धकेलता हुआ उसके बराबर खड़ा कर देता हूं। यह मुझे आसान लगता है बनिस्पत उसे अपनी दुनिया में ले आने के।

एक बार हम दिल्ली में लाल किले से गुज़रते हुए जब जामा मस्जिद के पास पहुंचे तो जाने क्यों जैसे किसी ने मुझे झंकृत कर दिया। मुझे लगा कोई मुझे पुकार रहा है। ऐसी अवस्था में मैं आंखें बन्द कर के समाधिस्थ हो जाना पसंद करता हूं। एक सुगंध जैसे कहीं से आ रही थी और मुझे अपना परिचय देना चाह रही थी। गाड़ी रूकवा दी गई। सब लोग वहीं ठहर गये और मेरी मुद्रा को देखने लगे।

'ज़रूर एक दिव्य आत्मा यहां कहीं है!' मैंने कहा।

सब लोग चारों ओर देखने लगे राजधानी की व्यस्त सड़क के बीच भारी आवागमन के अतिरिक्त उन्हें कुछ भी नज़र नहीं आ रहा था। वे इतना ज़रूर जानते थे कि जामा मस्जिद की ओर मेरा इशारा यक़ीनन नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ है। हमारे साथ इतिहास के एक प्रोफेसर भी थे, उन्होंने अपने दिमाग के घोड़े दौड़ाये।

'बाबा यहां श्री सरमद की एक मज़ार ज़रूर है।'

'वही तो.... मुझे जैसे एक संकेत मिल रहा है कि ज़रूर कोई दिव्य आत्मा यहां है.... उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती मुझसे– मैं अनदेखी करके आगे

नहीं बढ़ सकता।' मेरे हाथ अपने आप ही जुड़ गये।

सब लोग उत्सुक हो गये यह जानने को कि श्री सरमद कौन हैं ?

'बाबा, श्री सरमद के बारे में कहा जाता है कि वह ईरान से आये थे और हिन्दुस्तान आकर श्रीकृष्ण के भक्त बन गये। सब कुछ भूल भाल कर वह केवल श्रीकृष्ण को भजते। उन्हें ही जपते। यह बात भला अन्य लोगों को कैसे बर्दाश्त होती। एक मुसलमान दूसरे धर्म के ईश्वर की पूजा करे, ऐसा उन दिनों अन्य मुसलमानों को कैसे स्वीकार हो सकता था? उन लोगों ने बादशाह औरंगज़ेब के कान भरने शुरु कर दिये। औरंगज़ेब तो वैसे भी अपने धर्म के प्रति कट्टर था। उसने पहले तो श्री सरमद के पास अपनी नाराज़गी जताई और फिर कोई असर होता नहीं देख उसने उसका सर कलम करने की आज्ञा दे दी।

निश्चित तारीख़ को जामा मस्जिद के सामने उनका सर कलम करने की तैयारी शुरू हो गई। लोगों की भारी भीड़ इकठ्ठी हो गई। लोगों के मुंह से चीखें निकल गई जब उन्होंने देखा कि जैसे ही श्री सरमद का सर धड़ से अलग हुआ, धड़ सर को हाथ में लेकर मस्जिद की सीढ़ियां चढ़ने लगा है। लोगों को विश्वास नहीं हो रहा था कि यह हो क्या रहा है? तब ही एक फकीर अचानक आगे आया और बोला–

" ओ सरमद, यह इज़हारे – तैश, फ़कीर के लिए मुनासिब नहीं। "

उसका इतना कहना था कि सरमद का धड़ उलटे पांव लौट चला और जहां उसका सर कलम किया गया था वहीं आकर धड़ाम से गिर गया। बाद में वहीं उसकी मज़ार बना दी गई। हम उसी मज़ार के सामने से निकल रहे थे.... जब आपको इसका भास हुआ।'

मेरे हाथ अब भी उसके सम्मान में जुड़े थे। लोगों ने आगे बढ़ने का आग्रह किया तो हम चल पड़े। बार बार मुझे लग रहा था हम कुछ छोड़ आये हैं। पीछे कुछ रह गया है। जैसे कोई अपना सा, कुछ कहता हुआ सा । 'मैं श्री कृष्ण से उसकी मुक्ति के लिए प्रार्थना करूंगा।' ऐसा मैंने मन ही मन निश्चय किया।

....

18.

वह जब मुझसे मिलने आई तो उसके साथ दस – बारह बरस का एक लड़का भी था।

'आईये बोधानन्दजी महाराज' मेरे मुंह से निकल गया। सुनकर लड़का और उसकी मां दोनों शरमा गये। प्रणाम करके वह बोली 'बाबा, यह मेरा बेटा अखिलेश है।'

मेरी आंखें बंद थीं। बनारस में नदी किनारे बना एक आश्रम मेरे सामने चित्रित हो रहा था। बहुत सारे कमरे बने हुए थे। एक विशाल दालान था। चारों ओर बरामदा, बड़े बड़े खम्बे और चौकियां बनी थी। पुराना हो गया था आश्रम, लेकिन गरिमा जैसे आज भी बरकरार थी।

'मैया.... आज यह तुम्हारा अखिलेश है लेकिन कभी यह स्वामी बोधानन्द था– आज भी बनारस में इसका आश्रम है।'

दोनों चुप। लड़का तो बस मेरी ओर देखे जा रहा था। उसे शायद कुछ समझ में आ रहा था कुछ शायद नहीं आ रहा था।

'मेरी एक प्रार्थना है– कहीं फिर वैसी कोई कामना नहीं कर बैठना।'

लड़का चुप। उसकी मां भी चुप। दोनों हाथ जोड़े बस मेरे सामने बैठे थे।

'बाबा.... हमें कुछ समझ में नहीं आ रहा,' उसकी मां बोली।

'मैया.... जब यह स्वामी बोधानन्दजी था.... तो इसने कामना की थी कि वह किसी की भी मृत्यु को पहले से जान ले.... ईश्वर ने उसे यह वरदान दे दिया जैसे.... बस फिर क्या था.... वह ताड़ जाता था कि अमुक व्यक्ति अब मृत्यु का ग्रास बनने जा रहा है। उसकी यह बात सब जगह फैल गई,.... लोग इसे पूजने लगे थे,' मेरा इतना कहना था कि आसपास बैठे सभी लोग चकित होकर मेरी तरफ देखने लगे।

तब तक मैं भी जैसे वापिस इस धरातल पर लौट आया था। मैं बात को साधारण बनाने की दृष्टि से हंसने लगा।

'क्यों चौंक गई न मैया?'

वह बेचारी चुप। चकित।

'मैं तो मज़ाक कर रहा था' मैंने टालने की नीयत से बात को वहीं खत्म कर देना उचित समझा।

मैंने देखा मेरी बात सुनकर बालक की आंखों में एक दिव्य प्रकाश सा भर गया था। उसकी मां भी मेरी बातों पर विश्वास नहीं कर पा रही थी।

'बाबा.... क्या हम बनारस जाकर उस आश्रम को देख सकते हैं?' मैया ने पूछा।

'क्यों देखना चाहती हो?' मेरा सवाल था।

'ऐसे ही मन में उत्कण्ठा जागृत हुई है।'

'जैसी तुम्हारी मर्ज़ी.... लेकिन....' मैं कहते कहते रुक गया।

'लेकिन क्या बाबा?'

'उसके बाद.... क्या होगा.... यह मैं बता नहीं सकता या.... समझलो बताना नहीं चाहता।'

सब चुप हो गये। एक आशंका ने जैसे उन्हें घेर लिया था।

'मैं .... देख पा रहा हूं.... आश्रम बहुत विशाल है.... बड़े बड़े वृक्ष हैं.... बीचों बीच एक बड़ा मैदान है.... चारों ओर बरामदा है.... बरामदों में तख्त लगे हुए हैं.... कई कमरे जैसे बरसों से खुले नहीं हैं। पानी का एक हौद है। जिसमें अब काई जम गई है। छतों पर जाले बन गये हैं। अब चाहो तो तुम लोग जाकर.... देख आओ। गंगा के किनारे, अपनी तरह का एक ही आश्रम है। बोधानन्दजी महाराज को वहां के पुराने लोग खूब जानते हैं....।' मैंने अपनी आंखें बंद करके जाने क्या क्या कह दिया था और सब विस्मित होकर मुझे घूर रहे थे।

'बाबा आपके, भिक्षा के लिए तैयार होने का समय हो गया है', एक सेवक ने आकर मुझे सूचित किया।

मैंने सबसे विदा ले ली। अखिलेश और उसकी मां भी चले गये।

जब भिक्षा का कार्यक्रम चल रहा था तो पास ही बैठे श्री चिम्मन लाल जी के भान्जे मुकन्द भाई ने बताया कि उनकी मैया सबसे कहती फिर रही है कि वह मुझे राखी बांधेगी, क्योंकि उसने मुझे अपना भाई मान रखा है। यह बात सुनकर वहां बैठे सभी लोग चकित हो गये। सबको पता है मैं संन्यासी हूं और सभी प्रकार के रिश्ते नातों को कभी का छोड़ चुका हूं। कुछ तो यह भी अन्दाज़ा लगा रहे थे कि कदाचित अब मैं गुस्से में खड़ा हो जाऊंगा ओर मुकुन्द भाई की मैया को बुलाकर फटकारूंगा। मैं चुप रहा। मुकुन्द भाई सोच रहे थे कि उनकी बात से मुझे बहुत दुख हुआ होगा।

'राखी का पर्व कब है भैया?' मैंने पूछा।

'कल है बाबा' उसने जवाब दिया।

'ठीक है, कल तुम अपनी मैया को लेकर आना।'

मुकुन्द जी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं था। एक तरफ तो वह खुशी से फूले नहीं समा रहे थे, दूसरी तरफ उन्हें यह भी भय लग रहा था कि शायद मैंने मैया को सबके सामने लताड़ने के लिए बुलाया है। मुकुन्द जी चुपचाप अपने घर जाकर अपने कार्यक्रम में व्यस्त हो गये। उन्होंने किसी से भी इस बात का ज़िक्र तक नहीं किया। मन ही मन वह सोच रहे थे कि अनावश्यक ही उन्होंने मेरे सामने, अपनी मैया के भोलेपन में कही गई बात को मुझसे कह कर, उसका अपमान किये जाने का कारण उपस्थित कर दिया।

अगले दिन सुबह होने पर भी मुकुन्द भाई ने किसी से कोई बात नहीं की। अपने नियमित कार्यक्रम के अनुसार बस वह मुझे प्रणाम करने चले आये।

'क्या हुआ, तुम्हारी मैया नहीं आई?'

'वह बाबा...', वह कुछ कह पाता उससे पहले ही मैंने उन्हें टोक दिया, 'जाओ.... बुला कर लाओ।'

अब उनके पास अन्य कोई चारा नहीं था, बुझे मन से वह चल दिये।

'चलो, बाबा, बुला रहे हैं', जाकर उन्होंने अपनी मैया से कहा।

सवालिया निगाह से मैया ने मुकुन्द जी की तरफ देखा तो उनसे रहा नहीं गया।

'कल मैंने सबके सामने, तुम्हारी राखी बांधने वाली बात बाबा को कह दी थी.... ।'

आगे मैया ने कुछ भी नहीं सुना, जिस हाल में वह खड़ी थी उसी हाल में भीतर गई और जाने क्या पल्लू से कुछ बांधती हुई कुटिया की तरफ चल दी। मुकुन्द जी पीछे पीछे हो लिये।

जिस समय मैया मेरे पास पहुंची ....कुछ लोग मेरे साथ बैठे थे और किसी विषय पर मंत्रणा कर रहे थे। मैया सीधे मेरे पास चली आई । उसने पल्लू से एक कागज़ की पुड़िया निकाली और मेरे सामने रख दी ।

'क्या है मैया इसमें ?'

'बाबा रोली है और राखी है।'

'रोली तो मेरे पास यहां रख दे और राखी मेरे इस तख़्त के पाये पर बांध दे।'

मैया की खुशी का ठिकाना नहीं था। कहां तो सब लोग सोच रहे थे कि अभी मुझे गुस्सा आएगा और मैं रोली–राखी फेंक दूंगा और कहां मैंने सबके सामने उसे बहन स्वीकारते हुए उसकी राखी ले ली। जैसा मैंने कहा, मैया ने वैसा ही किया। फिर सजल नेत्रों से वह मेरे सामने खड़ी हो गई।

'एक प्रार्थना है बाबा।'

'आदेश कर बहना.... प्रार्थना नहीं।'

'जब मैं अंतिम सांस ले रही होऊं .... आप मेरे सिरहाने खड़े रहना।'

मेरी आंखे भर आई, मेरी बहन ने मांगा भी तो क्या.... मैंने स्वीकारोक्ति में सिर हिला दिया।

'मैं श्रीकृष्ण से प्रार्थना करूंगा .... वे मेरे वचन को पूरा करने में मेरी मदद करें।'

इतना सुनना था कि वह उलटे पांव लौट गई। आज जैसे उसने पता नहीं क्या पा लिया था। वह धरती पर कदम नहीं रख रही थी.... बल्कि हवा में तैर रही थी। तैरते तैरते ही वह जाने कहां खो गई।

मुकुन्द भैया अब भी सिर झुकाये खड़े थे, उनकी आंखों में भी पानी था।

'क्या हुआ?' मैंने पूछा।

'कुछ नहीं बाबा—' उससे कुछ बोला नही जा रहा था।

'कुछ तो ज़रूर हआ है'।

'बाबा .... आपसे हम कुछ छुपा भी नहीं पाते.... और आपको होने वाली परेशानियों को समझ भी नहीं पाते।'

'यही तो अपनापन है.... मेरे भैया.... इसी लिए तो तुम सब मेरे हो.... मैं तुम्हारा हूं.... हमारे बीच कोई भेद अब शेष नहीं रह गया है....।'

मुकुन्द थोड़ी देर चुप खड़ा रहा और फिर चला गया।

रात हो गई थी। अंधेरे ने अपनी चादर में सबको समेटना शुरू कर दिया था। दूर कहीं एक दीपक अपनी लौ से उसे चुनौती देने की तैयारी कर रहा था।

....

19.

कुछ दिनों से लगातार, उसे मैं मेरी कुटिया के सामने, कुछ दूरी पर लगे पेड़ के नीचे बैठी देख रहा था। वह किसी से कुछ बोलती नहीं थी और ना उसने कभी भी मेरे निवास के लिए निश्चित क्षेत्र में घुसने की कोशिश की थी। बहुत से ऐसे लोग वाटिका में आ जाया करते थे जो दूर स्थानों से आते थे और वाटिका में घूम घाम कर चले जाते थे। विश्राम के लिए वे जहां तहां बैठते भी थे, शुरू में मैने उसे ऐसे ही लोगों की तरह समझा। जब मैंने देखा, आठ दस दिन हो गये हैं, वह बिना नागा के निश्चित समय पर वहां आकर बैठ जाती है और फिर जाने कहां गायब हो जाती है, तो मैंने उसे बुलाकर पूछना ही सही समझा।

सफ़ेद रूई के फ़ाहों जैसे बाल। मेहनत और परेशानियों की गवाही देता

चेहरा। सामान्य सी कद काठी। साधारण से कपड़े। बस यही परिचय था उसका। ज़ुबान से ज्यादा उसकी आंखें बोलती थीं।

'मैया .... कई दिनों से देख रहा हूं.... तू वहां पेड़ के नीचे आकर बैठ जाती है और मुझे देखती रहती है.... बता ऐसा क्यों कर रही है?'

'मैं आपको नहीं देखती बाबा आपके पीछे पीछे सांवला सलोना एक बालक जो चलता रहता है उसे देखने आती हूं ।'

मैं जवाब सुनकर चुप हो गया। मेरे पास इसका कोई जवाब था भी नहीं। मेरा मानना था यह एक व्यक्ति का अपने ईष्ट को देखने का, उसकी कल्पना करने का तरीका है।

'अच्छा.... क्या देखती है तू?'

'मैं देखती हूं ठुमक ठुमक कर वह आपके पीछे पीछे चलता रहता है.... उसके पांवों में बंधे घुंघरूओं की आवाज़.... इतनी धीमी होती है कि बस .... सब कुछ भूलकर उसे देखने वाला ही.... उसे सुन सकता है.... ।'

मेरी आंखें बंद हो गयीं। बोलने को तो वैसे भी कुछ था ही नहीं। एक सन्नाटा हमारे बीच अब पसर गया था। बिना बोले ही जैसे हम जाने कितनी कितनी बातें करते जा रहे थे, जाने कितना समय बीत गया। मुझे लगा मैंने उसे बैठने तक को नहीं कहा है।

'बैठ जा मां.... और यह तो बता तुझे किस नाम से मैं पुकारूं?'

'कमली.... कमली नाम है मेरा.... बाबा।'

'और घर में .... कौन कौन हैं?'

'एक बेटी है.... विवाह योग्य.... श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते करते थक गई हूं.... चाहती हूं किसी तरह उसके हाथ पीले कर दूं.... फिर कहीं भी जीवन गुज़ार दूंगी.... ।'

'चिंता मत कर तेरी इच्छा ज़रूर पूरी होगी .... ओर जल्दी ही होगी,' मैंने आशा जगाई।

'बेसहारा हूं.... बाबा,' कहते कहते उसकी आंखों में समुन्दर छलक आया और गला रुंध गया। आगे कुछ भी वह चाहकर भी बोल नहीं पा रही थी।

'बेसहारा क्यों है मैया.... मैं क्या तेरा बेटा नहीं हूं....?'

'बाबा....' कहकर वह फूट फूट कर रोने लगी।

मैंने उसके लिए कुछ खाने को मंगाया। जल पिलवाया और उसके ठहरने की व्यवस्था करवायी। अब वह प्रत्येक दिन सुबह आकर मेरे परिक्रमा स्थली पर बैठने लगी और पूरी परिक्रमा होने तक वहीं बैठी रहती।

सात – आठ दिनों बाद वह परिक्रमा खत्म होने के बाद भी बैठी रही, तो मुझे लगा वह कुछ कहना चाह रही है।

'कैसी हो .... कमली मैया.... ठीक तो हो' मैंने पूछा

'हां.... बाबा मैं अपने गांव जा रही हूं.... बेटी का ब्याह पक्का हो गया है.... आपसे प्रार्थना है.... ।'

'क्या....?

'आप ब्याह में ज़रूर आवेंगे.... ।' भोली मैया के चेहरे पर कोई छल नहीं था.... बस विश्वास था कि वह मुझे अपने यहां बुलाकर ही रहेगी।

'मैया .... मैं आऊंगा तो ज़रूर.... लेकिन तू देख पाएगी या नहीं.... कह नहीं सकता।'

मेरी बात पर उसने कोई आश्चर्य प्रगट नहीं किया और न ही कोई आगे सवाल ही किया। उसने सहज ही मान लिया था कि मैं आऊंगा। अगले दिन वह

चली गई। बाद में उसके यहां से एक कार्ड आया था जिसमें उसने ब्याह का कार्यक्रम लिखकर भेजा था। शायद किसी से लिखवाया था और यह भी लिखना भूल गई कि मुझे आना होगा। उसके भोलेपन पर मुझे हंसी आ रही थी, लेकिन बेटी के ब्याह की उसकी खुशी से मुझे बड़ी प्रसन्नता का अनुभव भी हो रहा था।

करीब एक महीने बाद अचानक वह मैया मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। उसके हाथ में गत्ते का एक छोटा सा डिब्बा था।

'क्या मैया.... ब्याह की मिठाई लेकर आई है?'

उसने आगे बढ़कर डिब्बा मेरे सामने रख दिया। मैंने हाथ जोड़े और वहां बैठे लोगों को मिठाई बांट देने को कहा। उसने सब को थोड़ी थोड़ी मिठाई बांटी।

'सब कुशल मंगल के साथ हो गया मैया?'

वह हंसी, 'आपने तो स्वयं ने सब देखा है.... फिर भी पूछ रहे हैं।'

मैं अवाक् रह गया।

'आपकी उपस्थिति ने ही तो मुझे हिम्मत दी बाबा.... नहीं तो मेरी क्या मजाल.... क्या सामर्थ्य कि .... अकेली बेसहारा बुढ़िया ....ब्याह निबटा सकूं।'

वहां बैठे सब आश्चर्य से कभी मुझे देखते और कभी उस मैया को।

'जब बेटा माना है.... तो मुझे भी अपना कर्त्तव्य तो निभाना ही पड़ेगा न?', मैंने बात को सम्भालने की दृष्टि से कह दिया।

कमली मैया, चली गई। शायद अपने गांव, अपना घर जो उसे सम्भालना था। कह कर तो यही गई थी कि जल्दी ही हमेशा के लिए यहां रहने आ जायेगी, लेकिन शायद श्रीकृष्ण को यह स्वीकार नहीं था। कुछ दिनों बाद ख़बर आई कि कमली मैया का शरीर शांत हो गया। वह वाराणसी में थी और इच्छा थी कि मैं वहां आऊं और उसकी अंत्येष्टी में शामिल होऊं। मेरे लिए यह असंभव था, मैंने भाईजी की चिता स्थली को ना छोड़ने का प्रण जो ले रखा था। आखिरकार यही

तय हुआ कि उसके शरीर को यहां ले आया जाए।

'बाबा, यहां उसका कोई रिश्तेदार आदि भी नहीं है.... कौन करेगा यहां सारे क्रियाकर्म?' यह सवाल हरेक के मन में घूम रहा था।

'मैं करूंगा ', मेरा जवाब सुनकर सब भौंचक्के रह गये।

'क्या कह रहे हैं, आप?'

'वही कह रहा हूं.... जो आप सुन रहे हैं।'

'बाबा, आप संन्यासी हैं .... संन्यासी भला यह काम करता है?'

'लेकिन निषेध भी तो नहीं है।'

सब चुप हो गये।

'क्या आदि शंकराचार्य ने अपनी मां की अंत्येष्टी नहीं की थी?'

'वे परिस्थितियां दूसरी थीं.... और वह उनकी सगी मां थी।'

'कमली मैया भी.... मेरी मां है.... मैंने उसे मैया कहा है.... क्या मेरा कथन कोई मायने नहीं रखता?'

कोई क्या जवाब देता। आखिरकार कमली मैया के शरीर को यहां लाया गया। उसके क्रियाकर्म की सभी रस्में मेरे सामने पूरी की गईं। कमली मैया की बेटी भी आई थी। उसके पति भी आये थे, लेकिन उन्हें नहीं मालूम था, कि पिछले दिनों कैसे कमली मैया अचानक मेरे सम्पर्क में आई थी और कैसे सारा घटना चक्र गुज़र गया था। क्षण भर में एक रिश्ता बना था और अग्नि में तप कर वह अटूट बन गया था। दुनिया में सबसे पवित्र रिश्ता, मां बेटे का रिश्ता।

....

20.

अमावस्या तो नहीं थी, लेकिन फिर भी वह एक काली रात थी, डरावनी, दिल को झकझोर जाने वाली। बादल रह रह कर गरज उठते थे और बिजली चमक रही थी। तय था आज तूफ़ान आकर रहेगा। जैसे ही मौसम बिगड़ता था, पूरे शहर में बिजली चली जाती थी और घना अन्धेरा गलियों और सड़कों पर छा जाता था। तेज़ हवाओं के साथ पत्ते उड़ – उड़ कर इधर उधर बिखर रहे थे। मैं गहरी नींद नहीं ले पा रहा था, और अपने को थका हुआ महसूस कर रहा था और करवट बदलना भी मुझे कष्टकर प्रतीत हो रहा था। अचानक मुझे अपने आसपास दो व्यक्तियों का वार्तालाप सुनाई दिया।

'देखो भगत् जी , मुझे एक अत्यंत आवश्यक सन्देश बाबा को देना है.... मैं सुबह तक इंतज़ार नहीं कर सकता।'

'लेकिन आप देख रहे हैं.... कुछ देर पहले ही बाबा सोये हैं.... मैं उन्हें नहीं उठा सकता.... ।'

'लेकिन मेरी परिस्थिति भी तो देखिये.... मैं क्या करूं?'

'आप यहां बैठकर इंतज़ार करिये.... बीच में जब भी बाबा किसी भी कारण से उठेंगे तो मैं.... आपकी बात उन्हें बता दूंगा।'

मैं आधी नींद में था और आधा होश में था। मैंने आवाज़ों को पहचानने की कोशिश की। एक तो मेरे सेवक की थी और दूसरी मैं जान नहीं पा रहा था, मैंने लेटे लेटे ही अपनी मच्छरदानी के भीतर से ही पूछा–

'कौन है भैया?'

मेरा सेवक जो पुनः सोने का उपक्रम कर रहा था, अचानक फिर से उठ बैठा।

'बाबा.... मुकुन्दजी हैं.... कह रहे हैं .... एक आवश्यक सूचना आपको देनी है।'

मुकुन्दजी ने जान लिया था कि मैं उठ गया हूं और वह बिना देरी किये.... दौड़कर मेरी ओर आ गये।

अब मैंने अपनी मच्छरदानी सरकाई और बाहर आ गया।

'क्या बात है?' मैंने पूछा।
'बाबा.... आपको संजीव की याद है.... मेरा बेटा संजीव....' मुकुन्द जी की रुलाई रोके नहीं रुक रही थी ।

'हां....हां.... याद है क्या हुआ उसे....?'

'वह नहीं रहा.... ।'

'राम राम.... बहुत बुरा हुआ,' मैं इतना ही कह सका था कि कहीं से एक पक्षी ज़ोर ज़ोर से बोलने लगा और उसकी आवाज सन्नाटे को चीरती हुई पूरे बगीचे में गूंजने लगी।

'....पर अभी अभी तो वह मेरे ऊपर पंखा कर रहा था....' मेरे मुंह से बोल फूट पड़े। आश्चर्य से मुंह फाड़ कर मुकुन्द जी मेरी ओर देखने लगे.... उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था।

'हां, कुछ देर पहले तक तो वह मेरे यहां था.... जाने क्यों मुझे ऐसा ही अहसास हुआ था।'

'वह चित्रा के साथ बीकानेर जा रहा था.... रास्ते में दिल्ली स्टेशन पर ट्रेन पकड़ते हुए उसका हार्ट फेल हो गया।' मुकुन्द जी ने एक ही सांस में सारी

घटना सुना डाली।

'बहुत बुरा हुआ....' मैं बस इतना ही कह सका था कि मुकुन्द जी फूट फूट कर रोने लगे। अब उसे यहीं लेकर आ रहे हैं....' उन्होंने मुझे सूचित किया।

मैं क्या बोलता। आंखें बंद करके श्रीकृष्ण से प्रार्थना करने लगा। मुझे नहीं मालूम कब तक मैं ऐसे ही बैठा रहा। मुकुन्द जी चले गये थे। भगत जी भी थक कर एक ओर लुढ़क चुके थे। आसमान में बादलों की आवाजाही बढ़ गई थी। लगता था कोई वहां आने वाला है। सब ओर जैसे तैयारी चल रही थी। जैसे कोई कार्यक्रम होने वाला था या कोई समारोह होने वाला है। घुमड़ घुमड़ कर मचलते बादलों के बीच भी रह रह कर एक सन्नाटा गहरा जाता था और पूरी वाटिका में छा जाता था।

मुकुन्द जी बरसों से यहां रहकर सादगी से अपना जीवन बिता रहे थे। उनका एकमात्र पुत्र संजीव जब तक यहां रहा नियंत्रित और संयमित जीवन जीता रहा था। बाद में वह अपनी मां के साथ बीकानेर चला गया।

बीकानेर में वह गलत लोगों की संगत में पड़ गया और बुरी आदतों का शिकार होता गया। घर वाले लाड़ में उस कि इन हरकतों को नजर अंदाज करते रहे।

कभी कभी मुझे तरस आता है ऐसे लोगों पर और उलझन होती है जब वे परिणाम पर आंसू बहाते हैं। भाग्य को कोसते हैं। श्रीकृष्ण भी कैसी कैसी लीलाएं करते हैं और मुझे लगता है इठलाता हुआ मनुष्य उसके सामने कितना बेबस, कितना छोटा और कितना मासूम हो जाता है। बावजूद इसके मेरा विश्वास था कि मुकुंद जी की तपस्या का फल उस बालक को ज़रूर ज़रूर सद्गति प्रदान करेगा। आत्मा को शांति देगा।

अगले दिन जब उसके शरीर को यहां लाया गया तो मैंने देखा कि उसके चेहरे पर 'परम संतोष' था। जैसे उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए, सज़ा पर अपना संतोष अभिव्यक्त किया हो। जैसे वह बताना चाहता हो कि उसने जो कार्य किया है, उसका यहीं अंत होना था। एक सबक था, जो वह सबके सामने प्रस्तुत करता हुआ जा रहा था।

'अब तुम्हारे लड्डू को प्रसाद कौन लाकर देगा?'

मेरे प्रश्न पर मुकुन्द जी की पत्नी चुप हो गई। शायद वह इसका अर्थ समझ पाई ही नहीं।

मुकुन्द जी ने अपने यहां एक मंन्दिर घर में ही बना रखा था और वहां पर एक छोटे से बाल गोपाल की मूर्ति स्थापित कर रखी थी।

इन बाल गोपाल को लड्डू गोपाल कह कर भी संबोधित किया जाता था। संजीव को अपने शौक पूरा करने के लिए जब भी पैसों की जरूरत होती वह 'लड्डू को भोग लगाना है' कह कर अपनी मां से पैसे मांग कर ले जाता था। मां थी जो बिना सोचे समझे उसे तुरंत पैसे पकड़ा देती थी। संजीव लड्डूगोपाल को तो भोग लगाता था नहीं, हां, अपना शौक जरूर पूरा कर लेता था।

एक जहर था जो मां अपने बेटे को नित्य देती थी और एक हद थी लापरवाही की, कि एक पिता अपने बेटे को जानबूझकर मौत के दरिया में धकेलने में सहायक बनता जाता था।

अंत हुआ, जैसा होना था। कुछ दिनों तक रोए दुखी हुए और बाद में भाग्य का प्रसाद समझकर सब सहज हो गये। सहज होना पड़ा। एक बाप जिसे बुढ़ापे में बेटे का सहारा मिलता अब नितांत अकेला, बेसहारा रह गया। एक मां सूनी सूनी आंखों से बेबस अपने बेटे की बाट जोहती रहेगी। पर वह नहीं आएगा। एक पत्नी जिसके सपने, जिसका संसार उजड़ गया अब अपनी मांग में सिन्दूर नहीं भर सकेगी। एक बहिन, अब जब भी भाई की ज़रूरत महसूस करेगी, अपने आसपास किसी को नहीं पाएगी। रीती आंखों से अपने अतीत में खो जाऐगी। बचपन को याद करेगी। अनुभव करेगी कि काश, वह अपने भाई को, उस रास्ते पर जाने से रोक लेती तो यह दिन नहीं देखना पड़ता। पर अब क्या हो सकता था? कुछ दिनों तक उनके समाचार मिलते रहे थे, बाद में वे भी बंद हो गये। परिदृश्य से गायब हो गये वे। अपनी लड़ाई उन्हें अब स्वयं लड़नी थी। अपनी सामर्थ्य पर, अपने ही हथियारों के साथ। अपने मनपसंद स्थान पर अपने चुने हुए तरीके से, अपने ही लोगों से, अपने ही संस्कारों से।

....

21.

धूप की आंख मिचौली उस दिन बड़े सवेरे से शुरू हो गयी थी। तेज़ हवाओं से सूखे पत्ते लगातार झरते जा रहे थे और ज़मीन पर चादर की तरह फैल गये थे। ऊंचे वृक्षों के बीच से एक बांसुरी की सी आवाज़ रह रह कर कानों तक आती थी और जैसे छूकर गुज़र जाती थी। मन में एक भारीपन घर कर गया था, कुछ भी अच्छा नहीं लगता था।

अपने नित्य क्रम के अनुसार, परिक्रमा से पहले मैं जब मैया के दर्शन करने के लिए उसके कक्ष की ओर बढ़ा तो मुझे बताया गया कि मैया अभी तक सो रही है। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, कई दिनों से बीमार मैया अपनी नियमित दिनचर्या के अनुसार अब नहीं चल पाती थी। मैंने सोचा दूर से ही प्रणाम कर लूंगा। परिक्रमा का समय हो रहा था। लोग प्रतीक्षा में थे। मैया के कक्ष के किवाड़ बन्द नहीं थे, भिड़े हुए थे। दीवार की तरफ करवट लिये सचमुच वह लेटी थी। मैंने दोनों हाथ जोड़े और पलट कर जैसे ही लौटने को हुआ, मैया को जैसे पता लग गया।

'क्या जा रहे हैं?'

मैं ना हां कह सका और ना ही ना, लेकिन ज़ाहिर था लौटने को मैं मुड़ चुका था। मैं फिर से पलटा।

'मैंने देखा.... आप सो रही हैं।'

'नहीं .... मैं सो नहीं रही थी.... केवल लेटी थी....' अब की बार उसने बैठने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हो पायी। वह फिर लेट गई, लेकिन अबकी बार सीधे, पीठ के बल पर।

'लेटे रहना अच्छा लगता है।'

'कमज़ोरी जो है।'

'कमज़ोरी भी.... और अवस्था भी.... अब तो बस जी करता है श्रीकृष्ण उठा ही लें।'

मैंने कुछ नहीं कहा, चुप रहा।

'बैठिये.... एक उलझन है,' मैया ने मुझे बैठने का इशारा किया।

पास ही पड़ी एक लकड़ी की कुर्सी पर मैं बैठ गया।

'आज.... बड़े सवेरे आंख खुली.... आसमान बिल्कुल साफ था.... एक सफ़ेद कबूतर मेरी खिड़की के सामने उड़ता जा रहा था.... जाने कब से .... कभी ऊपर उड़ता.... कभी नीचे गोते खाता.... कभी अपनी गति तेज़ करता .... कभी एकदम धीमे हो जाता.... जैसे किसी को छका रहा हो.... किसी से अपने को बचा रहा हो.... दूसरा कोई दिखाई भी नहीं दिया.... लेकिन निश्चित था कोई है जिससे वह बचने की कोशिश में जी जान से लगा है,' मैया बोलते हुए चुप हो गई, मैं भी अपने को मुस्कुराने से नहीं रोक सका।

'फिर?'

'फिर क्या.... अचानक वह नन्हा सा परिन्दा थक गया .... उसकी अर्जित शक्ति जैसे खत्म हो गई.... उसने अपने को असहाय सा हवाओं के हवाले कर दिया.... वह नीचे की ओर गिरने लगा....' मैया की आंखे विस्मय से फैल गई। तय था, नीचे अनेक मांस भक्षी उसकी ओर टकटकी लगाये बैठे थे.... और उनमें से किसी एक का उसको ग्रास बनना होगा।'

मैया ने फिर बैठने का श्रम किया.... और अबकी बार वह सफल हो गयी।

'मैंने अपनी आंखें बंद करलीं, और चाहा कि श्री कृष्ण अब उसकी सहायता को आवें.... और फिर जैसे चमत्कार हो गया.... वह कबूतर मेरी झोली में ही आकर गिर गया।'

मैया ने सचमुच अपनी साड़ी का एक किनारा मुझे दिखाया।

'उसकी गरम सांसें.... उसकी धड़कन, मैंने स्वयं महसूस कीं.... देर तक वह मेरे आंचल में बैठा रहा.... अपनी गोल आंखें उसने बंद करली थीं और बेफ़िक्र होकर जैसे कुछ देर को सो गया।'

मैया ने अपने आंचल को मेरी ओर फैलाते हुए कहा 'लो .... देखो.... उसकी गरमी अब भी यहां है,' वह थोड़ी देर चुप हो गई।

'अचानक वह उठ खड़ा हुआ .... फिर.... और उड़ने को तैयार हो गया जैसे.... उसने अपने पंख एक बार फिर फड़फड़ाये .... जैसे फिर से पूरी ताकत को उसने समेटा.... और जाते जाते मुझ से कह गया–

"मैं यूं ही नहीं हवाओं से लड़ रहा था.... मैया.... मैं काल बन कर आये उस बाज को छका रहा था.... जो तेरे प्राण लेने आया था.... तू चिंता मत कर.... मुझ में अभी भी दम है.... उसे यूं ही सहजता से तेरे पास नहीं आने दूंगा....''

मैया ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये.... जैसे हाथों के बीच बैठे कबूतर को उड़ा दिया हो। कमरे में एकदम सन्नाटा छा गया। मैया प्रायः बहुत कम बोला करती थी, इतनी लम्बी बातचीत तो शायद उसने पहली बार की हो। वह थर थर कांपने लगी थी। मैंने वातावरण को और ग़मगीन ना होने देने के लिए सारी बात को मज़ाक में बदलना बेहतर समझा।

'मैया मौत से घबराती है.... उस संत की पत्नी होकर जो मौत से खिलौने की तरह खेलता रहा.... मैया मेरी मैया.... जो मुझे जीवन का पाठ पढ़ाती रही है वह मैया.... मौत से घबरा रही है,' मैं उठ खड़ा हुआ। 'इन काल्पनिक बातों को सोच सोच कर, परेशान मत हुआ कर.... श्रीकृष्ण पर भरोसा रख.... केवल श्री कृष्ण को ही भज।'

मैया सब समझती थी। मेरे कहने का तात्पर्य। मेरे बोलने का अन्दाज़। मैं भी समझ रहा था, मैं क्या कह रहा हूं। भाईजी की जन्म शताब्दी के कार्यक्रम अब

समाप्त होने को थे। इस समाप्ति के साथ साथ ही मैया की दवा और सेवा से अभिरूचि भी खत्म हो गयी थी। अब वह अपने को नियति के हवाले कर चुकी थी। चिकित्सकों का एक दल मैया के स्वास्थ्य की परीक्षा करने को खड़ा था। मुझे मालूम था वे कुछ अच्छी सूचनाएं लाकर नहीं देने वाले हैं। मैं बाहर आ गया, उन्हें अपना काम करना ही होगा।

'जांच करने के बाद.... कृपया मुझ से मिलकर जावें', मैंने उन लोगों से केवल इतना ही कहा और परिक्रमा स्थली पर आ गया।

मेरे कदम तो परिक्रमा कर रहे थे लेकिन मन जैसे कहीं दूर एकांत में बैठकर सबसे अलग सोचने को कर रहा था। ज़िन्दगी की फिल्म जो अब तक सिमटी हुई थी, अब जैसे फैलकर दुबारा मेरे सामने बिखर जाना चाहती थी ताकि मैं अपने को परखूं। अपना आंकलन करुं।

अपने सामने बैठे लोगों के चेहरों को मैं ग़ौर से देखने लगा। सब एकदम अनजान क्यों लग रहे थे आज? लग रहा था, ये सब यहां क्यों इकठ्ठे हुए हैं? ये क्या चाहते हैं मुझसे? सबकी आंखों में एक आशा की ज्योति सी क्यों है? एक उमंग सी, उन्हें यहां क्यों खींचकर ले आई है। शायद एक विश्वास है, जो उन्हें यहां से बांधे रख रहा है।

परिक्रमा खत्म होने पर मैंने देखा चिकित्सकों का दल मेरी ही प्रतीक्षा में खड़ा है। मैंने उन्हें अपने नज़दीक बुलाया, मैं अपनी कुटिया की ओर बढ़ गया और चिकित्सकों को अपने साथ आने को इशारा कर गया।

चिकित्सकों के चेहरे लटके हुए थे। कदाचित उन्हें अपनी नाकामी और बेबसी पर जैसे शर्म आ रही हो। मुझे पूरी बात समझते देर नहीं लगी।

'हां, बाबा.... मैया की हालत में कोई सुधार नहीं है.... बल्कि थोड़ी गिरावट ही है।'

'तो फिर....?' मेरा सवाल था।

'कुछ नहीं कह सकते शायद .... एक दिन.... शायद एक घंटा.... शायद

कुछ क्षण' उनका जवाब था।

मैंने अपनी दोनों आंखें बंद करलीं। अपने दोनों हाथ जोड़ते हुए मै ईश्वर को याद करने लगा था।

'परमात्मा को.... जो मंजूर होगा.... वही होकर रहेगा .... हम सब कर ही क्या सकते हैं?'

चिकित्सकों का दल चला गया। मैया के कक्ष के आसपास गतिविधियां बढ़ गई थीं। उसके निकट के सम्बन्धी शायद इकठ्ठा होने लगे थे, मैंने अपने परिचारक से कहा—

'मैं कुछ देर एकांत चाहता हूं।'

उसने तुरन्त मेरे आसपास खड़े लोगों को वहां से हटा दिया।

अब मैं नितांत अकेला था। मैं और मेरी तन्हाई। मैं और मेरी सोच। मैं और मेरा ईश्वर। एक घेरा खड़ा कर लिया मैने अपने इर्द गिर्द।

वातावरण बोझिल हो गया था या मुझे ऐसा लगने लगा था। लग रहा था दिशाएं लाल होती जा रही हैं। जैसे एक बड़े कैनवास को कोई चित्रकार रक्त से रंगे जा रहा था। एक युग जैसे बीत जाने को था। एक किताब जैसे ख़त्म होने को थी। कहानी कहते कहते जैसे कोई थक जाए और उसकी आंखे मुंदने लगी हों। पेड़ों के साये में आ आकर पंछी सिमटते जा रहे थे। फूलों की डालें झुक गई थीं और धरती को छूने लगी थीं।

मुझे लगा दूर कहीं एक झील है और उस पर एक अकेली नाव धीरे धीरे जा रही है। अचानक बादल गहरा गये हैं और बिजली चमकने लगी है। एक तूफ़ान आने को बेचैन है। नाव में कोई नहीं है, केवल एक मानवाकृति है अपने चेहरे को उसने दोनों हाथों से ढक लिया है। नियति के हवाले अपने को करने के अतिरिक्त उसके पास कोई उपाय नहीं बचा है। हवा उसे किनारे से दूर लेती जा रही है। मैं चीख रहा हूं। उसे अपने पास बुलाना चाहता हूं। वह नहीं सुनती। शायद कोलाहल में उसे कुछ भी सुनाई नहीं देता। मैं दौड़कर झील में कूदना

चाहता हूं, लेकिन हवा है कि मुझे बार बार अपने आग़ोश में क़ैद कर लेती है। मैं हांफता हुआ फिर कोशिश करता हूं, लेकिन फिर वह मुझे झट्क कर किनारे से दूर फेंक देती है। धीरे धीरे वह नाव दिखाई नहीं देती और फिर.... फिर .... तो झील भी दिखाई देना बंद हो जाती है।

'बाबा.... बाबा।'

मुझे कोई पुकारता है। मैं जैसे नींद से जागता हूं अपने चारों ओर देखता हूं– बोलने वाले को पहचानना चाहता हूं।

'कौन है?'

'मैं।'

'मैं कौन?'

'मैं– सावित्री... बाबा।'

'सावित्री... तू यहां क्या कर रही है– जा अपनी मैया के पास जाकर बैठ।'

'मैया .... हम सबको छोड़ गई बाबा', कहते हुए वह बिलखने लगती है।

एक पेड़ के नीचे श्रीकृष्ण खड़े मुस्कुराते हैं।

'कैसी.... लीला है प्रभु', मैं कहता हूं.... तब भी वह मुस्कुराते रहते हैं। पेड़ अचानक ज़ोर से हिलता है। ढेर सारे पत्ते गिरकर ज़मीन पर बिछ जाते हैं। श्री कृष्ण अब वहां नही होते, केवल सूखे पत्तों का बिछौना सा बना होता है।

सावित्री अब भी लगातार रोए जा रही थी। मैं उठ खड़ा हो गया। मेरे कदम मैया की कोठी की तरफ अपने आप ही बढ़ने लगे थे।

....

22.

सूरज तो उस दिन भी रोज़ की तरह ही निकला था। ऊंचे दरख़्त हिल रहे थे और धूप छनकर घास पर बरस रही थी। हवाओं में वैसी ही ठण्डक थी और फूल खिल रहे थे। मंदिर से घण्टियों की आवाज़ें आने लगी थीं। शिखर पर लगा झण्डा वैसे ही लहरा रहा था। मैंने देखा बादल घुमड़ रहे थे और दिशाएं धुंधला गई थीं। गायों का एक झुण्ड रोज़ाना की तरह धूल उड़ाता जा रहा था। कहीं कुछ भी नहीं बदला था, बस पहले भाईजी चले गये थे और अब मैया चली गई है।

सूरज तो उस दिन भी रोज़ की तरह निकलेगा जब मैं भी नहीं रहूंगा। फूल भी खिलेंगे और पत्ते भी झूमेंगे। धूप भी आएगी और लू भी चलेगी। जाड़ा भी आएगा और बारिश भी होगी। बसंत भी आएगा और पतझड़ भी। लोग हंसेंगे भी और रोएंगे भी। मंदिरों में भी रोज़ आरतियां होंगी। प्रार्थना सभाएं आयोजित की जाती रहेंगी। ज़िन्दगी की मौत से जद्दोज़हद यूं ही चलती रहेगी। कहीं कुछ नहीं बदलेगा, बस मैं इस लड़ाई में कहीं नहीं होऊंगा। मैं परिदृश्य से गायब हो चुकूंगा।

परिदृश्य से गायब तो एक बार मैं पहले भी हुआ था जब मैं तेईस बरस का युवक था और मैंनें संन्यास ले लिया था। फ़ख़रपुर में एक पुराने से मकान में तब सन्नाटा छा गया था। फूल तो वहां तब भी खिले हुए थे, लेकिन उनकी खुशबू किसी ने छीन ली थी। हवाएं भी चलती तो थीं लेकिन उनमें संगीत नहीं बचा था। दिशाएं लाल तो होती थीं लेकिन लगता था दहक रही हैं। चबूतरे पर बेटे की प्रतीक्षा में एक बूढ़ी मां बैठती तो थी रोज़, लेकिन आता कोई नहीं था। एक पिता की बांहें अपने पुत्र को सीने से लगाने को मचलती तो थीं लेकिन थक कर फिर सिमट जाती थी क्योंकि वह लौटता नहीं था। घर में खाना तो सभी खाते थे लेकिन तृप्त कोई नहीं होता था। पानी भी सभी पीते थे लेकिन प्यास किसी की नहीं बुझती थी। त्यौंहार तो साल भर सभी आते थे लेकिन जैसे आधी खुशियां ही लिए आते थे। धीरे धीरे समय के थपेड़ों को झेलते झेलते घर के सदस्य भी हार गये। नियति से उन्होंने समझौता कर लिया और मेरे बगैर जीना सीख गये।

ऐसा ही बगीचे में भी होगा। भाईजी द्वारा बनाया गया वृन्दावन ज्यों कि त्यों बना रहेगा। राधा कृष्ण का मंदिर अपनी भव्यता के साथ खड़ा रहेगा। समाधि पर लोग दूर दूर से आएंगे और अपने श्रृद्धा सुमन अर्पित करते रहेंगे। 'कल्याण' भी अपने मिशन में निरंतर आगे बढ़ता रहेगा। उत्सव और समारोह भी मनाये तो जाते रहेंगे, लेकिन स्वरूप वैसा नहीं रह सकेगा। लोग प्रतिस्पर्द्धा के भाव से कार्यक्रम आयोजित करेंगे। अपना वैभव दर्शाने की होड़ लगी रहेगी। कार्य करने को हमेशा आगे रहने वाली पंक्ति, पीछे चली जाएगी और नये लोगों का जत्था बागडोर सम्भालने लगेगा। ऐसा एक क्रम की भांति होता रहेगा.... और कहीं कुछ नहीं बदलेगा। वह भी अक्टूबर माह का ही समय था जब मैं पहली बार गीता वाटिका में आया था और यह भी अक्टूबर का ही महीना है जब मैं जीवन के रंगमंच पर पटाक्षेप की ओर बढ़ रहा हूं। इस बीच करीब 56 बरस बीत गये हैं, 23 बरस का वह युवक अब 79 बरस का वृद्ध हो गया है। इतने बरसों में कितना कुछ बीत गया.... हिसाब भी नहीं लग पाएगा। याद करने बैठूं तब भी, दिमाग़ शायद साथ ही ना दे। पूरी ज़िन्दगी, रेलगाड़ी में बैठे यात्री की यात्रा के समान गुज़र गई। ना जाने कितने ठहराव आए। ना जाने कितने सहयात्री मिले और बिछुड़े। ना जाने कितने दृश्य पीछे छूटते गये। कितनी बार गति में परिवर्तन हुए। कितनी बार हिचकोले खाए। कितनी बार नींद ने अपनी गोद में सुलाया और कितनी बार झकझोर कर उठा दिया। अब मेरी मंज़िल आने को है, अब मुझे उतरना ही होगा।

'लाल, ओ लाल।'

मुझे लगा मैया मुझे पुकार रही है। मैंने चारों ओर देखा, मैया मुझे कहीं भी दिखाई नहीं दी।

'लल्ला.... लल्ला।'

यह तो भाभी की आवाज़ थी। क्या वह भी मुझे पुकार रही थी.... लेकिन मुझे कोई भी दिखाई क्यों नहीं देता। केवल आवाज़ें ही क्यों मेरे पास आ रही हैं?

'जा, तेरा कल्याण हो।'

अचानक भस्म लगाया हुआ, त्रिशूल हिलाता वह साधु जाने कैसे यहां तक आ गया! मैं चौंक कर उठ बैठा था और मेरी आंखें उसे खोज रही थीं, लेकिन बेकार। वह भी केवल अपनी आवाज़ देकर जैसे कहीं गुम हो गया था।

'पुरस्कार वितरण का कार्यक्रम तो अब आरम्भ होगा, लेकिन संगीत का यह पदक मैं तुम्हें अभी यहीं देता हूं।'

तालियां गूंज रही थी और हज़ारों आंखें मेरी ओर गड़ी थीं। मेरे गले में तमगा लटक रहा था।

मेरे मुंह में गुड़ का स्वाद भर गया। मेरी मां मेरे बालों पर हाथ फेर रही थी और उसकी आंखों से लगातार आंसू बहे जा रहे थे।

'ले... भगवान का सहारा ले....सब मंगल होगा।'

अचानक रमल विद्या जानने वाला साधु मेरे सामने जैसे आकर खड़ा हो गया था।

'यह लो.... इस कागज़ में मैंने तारीख़ लिख दी है... उस दिन से तेरा भाग्योदय होने लगेगा।'

मैं मुठ्ठी भींच लेता हूं। चाहता हूं वह कागज़ मेरे हाथ से छूट नहीं जाए।

मेरी कोशिश बेकार साबित होती है, मेरी हथेली में कोई कागज़ नहीं होता। ना ही वह साधु मुझे कहीं नज़र आता है।

ज़ोर ज़ोर से जेल के सिपाहियों के चहल कदमी करने और उनके पैर पटकने से आती उनके भारी जूतों की आवाज़ें मेरे कानों में गूंजने लगती हैं। जेलर ज़ोर से जैसे चीखता है और मेरी नाक पर घूंसा मारने को आगे बढ़ता है। मेरा पूरा शरीर पसीने से नहाने लग जाता है। प्रतिरक्षा में मैं भी अपना हाथ उपर उठाना चाहता हूं लेकिन वह उठता नहीं। जैसे भारी पत्थर उसमें बांध दिया गया हो। मुझे लगता है कोई मेरी पीठ सहला रहा है। मैं देखना चाहता हूं कौन है.... शायद बंगाली बाबू.... शायद कोई और...।

'मेरी इच्छा है एक बार.... तुम गोरखपुर चले जाओ और वहां भाईजी से मिल लो।'

यह तो संत महाराज थे.... 'अचानक आप यहां कैसे?' .... मैं कहना चाहता हूं लेकिन ज़ुबान जैसे चिपक जाती है। बोल मुंह से निकलते ही नहीं। मैं उन्हें प्रणाम करने को झुकता हूं। वे मुस्कुराते हैं, लेकिन मैं सीधा खड़ा होता हूं उससे पहले ही वे गायब हो जाते हैं।

'क्यों? क्यों सब मुझे अचानक यूं अकेले छोड़कर भाग रहे हैं?' सवाल मेरे दिमाग में बार बार कौंधता है।

'क्या यही वह वक्त है.... जब आदमी अपने को सबसे कटा कटा महसूस करने लगता है। मैं सोचता हूं और थककर फिर से अपने तख़्त पर बैठ जाता हूं।

आसमान गहरा नीला हो जाता है जैसे श्री कृष्ण के रंग में रंग गया हो। मेरे आसपास दूर दूर तक कोई नहीं होता। मैं गहरे नीले आकाश को अपनी बाहों में भर लेना चाहता हूं, तब ही भाईजी मेरे सामने खड़े हो जाते हैं। सूर्य के समान तेज, ज्ञान और भक्ति का कलश लुटाते हुए। अचानक उन्होंने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिये और हमेशा हमेशा के लिए मुझे अपना बना लिया।

इसके बाद एक बार फिर उन्होंने मुझे छुआ था वह भी केवल अंगुलियों से और गुरू शिष्य का संबंध तब से ही स्थापित हो गया था और आजन्म बना रहा

था।

'ये गोस्वामी जी हैं.... मेरे बाद 'कल्याण' ओर 'कल्पतरू' की ज़िम्मेदारी अब ये ही वहन करेंगे।'

भाईजी अपने साथ खड़े एक सज्जन से मेरा परिचय कराते हैं। मैं हंसने लग जाता हूं।

'बाबा.... आप मज़ाक समझ रहे हैं ?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं।'

'फिर आपके हंसने का कारण?'

'इसलिए कि गोस्वामी जी क्या मुझसे पहली बार मिल रहे हैं?'

'मेरे शब्दों पर आपने ध्यान नहीं दिया.... मैं कह रहा हूं.... मेरे बाद..।'

इस पर मैं चुप हो जाता हूं। भाईजी गोस्वामी जी का हाथ पकड़कर मेरे कमरे से बाहर चले जाते हैं। मैं पीछे पीछे दौड़ता हूं, लेकिन उन्हें रोक नहीं पाता। वे बिजली की सी गति से गायब हो जाते हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि वे कहीं जा रहे हैं क्या? वे दूर चले जाते हैं, मैं चीखता हूं।

'क्या आप कहीं जा रहे है?'

'हां।'

'कहाँ ?'

'श्रीकृष्ण के यहां से बुलावा आया है।'

सचमुच एक दिव्य रथ आता है और भाईजी को लेकर चला जाता है। लोग सुबक रहे हैं। मैं फिर से अकेला हो जाता हूं। रथ के गुज़र जाने के बाद

उड़ती धूल सबकी आंखों में भर जाती है। लोग अपनी अपनी आंखें मसलते हैं और दृश्य को साफ देखने की कोशिश करते हैं लेकिन असफल होते जाते हैं। भाईजी अब वहां नहीं होते।

'बाबा....बाबा' कोई मुझे पुकारता है। 'ललिता आई है जयपुर से.... साथ में उसके पति भी हैं।'

यह तो भगत जी की आवाज़ है। मैं मुड़कर देखता हूं, तीन आकृतियां मेरे सामने खड़ी होती हैं।

'ललिता.... वह तो जयपुर में है', मैं बुदबुदाता हूं।

'हां, वही' अबकी बार फिर भगत जी जवाब देते हैं। मैं अपने पास रखा सेब उठाता हूं और ललिता की ओर बढ़ा देता हूं।

'यह साधारण सेब नहीं है' मैं उसे बताता हूं। 'इसमें जन्म जन्मांतर की मिठास भरी है– यह अद्भुत है.... यह चिन्मय है.... इसके छूने मात्र से श्रीकृष्ण मिल जाते हैं! '

मैं देखता हूं ललिता की आंखें चमक उठी हैं।

लेकिन मैं चुप हो जाता हूं। ललिता के चेहरे की चमक भी इसके साथ ही फीकी पड़ जाती है।

'लेकिन इसे संभाल कर रखना बहुत मुश्किल है.... जिस क्षण तुममें अह्म जागा.... जिस पल तुमने श्रीकृष्ण को विस्मृत किया यह छूमंतर हो जाएगा।'

ललिता की आंखें नीची हो जाती हैं और उनमें से आंसू निकलने लग जाते हैं.... वह कुछ बोल नहीं पाती, केवल हाथ पसारे खड़ी रहती है।

'अह्म को मारने और श्री कृष्ण को सदैव याद रखने की हिम्मत भी तो आप ही देंगे अपनी बिटिया को, बाबा' वह बोलती है।

मैं जाने क्यों ज़ोर ज़ोर से ताली बजाने लग जाता हूं। मुझे उसकी

चतुराई पर हंसी आती है। 'तू.... चमत्कार करने को कह रही है और इस संन्यासी को चमत्कार दिखाना ही तो नहीं आता बिटिया .... बस उससे तुम्हारे लिए प्रार्थना ही कर सकता हूं ।'

'मुझे विश्वास है आप पर.... और यह भी विश्वास है कि आपकी प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाएगी।'

वह सेब को लेकर प्रणाम करती है और चली जाती है। मैं उसके मंगल की कामना करता हूं और प्रार्थना के लिए आंखें बंद करना चाहता ही हूं कि मेरे आसपास एक दिव्य प्रकाश फैल जाता है।

'कौन.... मैया.... आप.... आप यहां चलकर आ गईं?' मुझे आश्चर्य होता है।

'हां, बाबा.... अब मैं जहां हूं....वहां शारीरिक कष्ट नहीं होता है।'

'क्या आज्ञा है?' मैं झुककर खड़ा हो जाता हूं।

'एक चिंता है.... आपके बाद इस वृन्दावन को कौन संभालेगा....कौन इसकी गरिमा बनाये रखेगा?'

'शायद सावित्री.... यह कर पाएगी?' मेरे मुंह से निकल जाता है। वह गर्दन हिला देती है, उसे भरोसा नहीं होता।

मैं कहता हूं 'श्री कृष्ण पर तो भरोसा है?'

वह कुछ नहीं कहती केवल शून्य में देखती रहती है।

'जैसी आपकी मर्ज़ी' इतना ही वह बोल पाती है कि आकाश में इन्द्र धनुष उभर आता है, वह उस पर सवार होकर चली जाती है जैसे आई थी वैसे ही।

....

23.

धुंआ सा आंखों में भर गया था और पलकें इतनी भारी हो गई थीं जैसे किसी ने ताला बंद कर दिया हो। अब तो कोशिश करने पर भी कुछ भी स्पष्ट दिखाई नहीं देता था। लोग आकृतियां बन गये थे और आवाज़ें गुम होती जा रही थीं। सर्दी गर्मी का अहसास भी अब तो करीब करीब नहीं के बराबर हो रहा था। मुंह का स्वाद जैसे ख़त्म सा हो गया था, कुछ भी खाने की इच्छा नहीं होती थी। दिल करता था एकदम अकेला मुझे छोड़ दिया जऐ। कोई तीमारदार भी आसपास तक ना हो। पास में खड़े व्यक्ति का बोलना भी कष्टप्रद लगता था।

डॉक्टर नाड़ी देखने के लिए हाथ पकड़ता था तो हंसी आती थी।

'अरे, जिस हाथ को श्री कृष्ण पकड़ कर ले जायेंगे, उसे तुम लोग पकड़ रहे हो?'

वे लोग नहीं समझते, कभी नाड़ी देखते हैं तो कभी दिल की धड़कन। कभी पेट चैक करते हैं और कभी जीभ को परखते हैं। मुझे नहीं लगता 'राधा राधा' के अतिरिक्त उन्हें कुछ सुनाई देता होगा। श्री कृष्ण के अतिरिक्त उन्हें कुछ दिखाई देता होगा। वे नहीं मानते। देखे और छूने को भी एकदम नकार देते हैं।

दिल की धड़कन में वे केवल 'धा' 'धा' तो सुनना चाहते हैं, निरंतर गूंज रहा 'राधा' 'राधा' नहीं सुनना चाहते। सांसों से निकल रही 'श्री' 'श्री' की सुगंध उन्हें महसूस नहीं होती। वे केवल उसकी गरमी को नाप लेना चाहते हैं। मुझे उनकी नासमझी पर हैरानगी होती है। इच्छा भी होती है कि झटक कर उनका हाथ दूर कर दूं। चीख़कर बता दूं कि तुम लोग देखकर भी अनजान क्यों बन रहे हो? सुनकर भी बहरे क्यों बने रहना चाहते हो? बावजूद तीव्र इच्छा के शरीर ही साथ नहीं देता। हाथ जैसे किसी ने जकड़ लिए हों, उठते ही नहीं। जुबान पर भी किसी ने जैसे कुंदी लगा दी हो, खुलती ही नहीं। निशक्त होकर शरीर पड़ा रहता है।

'देखिये, दवा तो देनी ही पड़ेगी– उसके बग़ैर तो हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है,' कोई बोलता है ।

'कैसी बात करते हैं आप?' एक स्त्री स्वर गूंजता है 'जानते हुए भी .... ऐसा कह रहे हैं!'

'तो फिर क्या करें?' पुरूष स्वर में झुंझलाहट झलकती है।

'आप.... जानते हैं डॉक्टर साहब– दवा, ये होठों के नजदीक तक तो लाने देंगे नहीं,' फिर स्त्री स्वर मेरे कानों में टकराता है।

मुझे लगता है कोई डॉक्टर और एक महिला मेरे विषय में ज़िरह कर रहे हैं। थोड़ी देर में उनकी आवाज़ें धीमी पड़ जाती हैं। कदाचित् बात करते करते वे लोग मुझ से दूर चले गये थे। शायद उन्हें लगा था मैं उनकी बातचीत सुन रहा हूं।

तभी मुझे लगा किसी महिला ने मेरे सिर को अपनी गोद में रख लिया और सहलाने लगी है। मुझे बहुत सुकून सा अनुभव तो हुआ लेकिन गुस्सा भी आ रहा था कि यह कौन है जिसने मुझे स्पर्श करने का दुस्साहस किया है। क्या वह जानती नहीं कि मैंने जब से संन्यास लिया था तब से मैं स्पर्श से परहेज़ करता रहा हूं। मेरा गुस्सा, चाहकर भी, बाहर नहीं आ सका। मेरा चेहरा लाल हो गया और ललाट पर पसीना झलकने लगा था। महिला ने इसे देख लिया था। एक कपड़े से उसने पसीने को पौंछ दिया।

'मुझे मालूम है बाबा.... मुझे एक संन्यासी को स्पर्श करने और उसका इलाज करवाने का पाप लगेगा.... लेकिन मैं इसे सहर्ष स्वीकार कर लूंगी.... मुझे मेरे दण्ड की चिंता से अधिक आपके जीवन की चिंता है।'

मैं कुछ जवाब दे पाता उससे पहले ही मेरे हाथ में जैसे किसी ने सुई चुभोदी.... और एक गरम लहर सी मेरी नसों में उतरती चली गई।

'हे राम!' मै केवल इतना कह सका था और जैसे मुझे गहरी नींद आ गई। मै निश्चेष्ट होकर पड़ गया।

'क्या कष्ट हो रहा है?' कोई पूछ रहा था मुझसे लेकिन मेरे पास जवाब देने की शक्ति नहीं बची थी। मैं बहुत चाहता था कि बताऊं कि मैं अब कष्ट और आराम की सीमाओं से बहुत दूर जा चुका हूं। मैं यह भी बताना चाहता था कि अब दवाएं और दुआएं मेरे लिए बेअसर हैं। मुझे पकड़े रखना अब संभव नहीं होगा।

'क्या बाबा अब हमें छोड़कर चले जाएंगे?' एक बच्ची पूछ रही थी, जाने किससे।

'नहीं बेटा.... बाबा हमें छोड़कर कैसे जा सकते हैं ?' कोई जवाब देता है।

मैं चाहता हूं उसकी बात का समर्थन करुं, लेकिन मुझे जैसे विवश कर दिया गया था कि मैं केवल सुनूं। मैं ज़ोर ज़ोर से चीखकर कहना चाहता था कि मैं जरुर अब मुक्त होना चाहता हूं लेकिन रहूंगा यहीं मंदिर के घंटों में, आरतियों के दीपक में और समाधि पर चढ़े फूलों की सुगंध में। हर खिलने वाली कली मेरी आंखों से देखेगी। हर चहकती चिड़िया मेरी भाषा बोलेगी। बारिश की बूंदों में और धूप की किरणों में मैं होऊंगा। मैं सौ बरसों तक निगेहबान बनकर यहीं रहूंगा, सबके बीच .... पर मैं कुछ भी बोल नहीं पाता। एकदम हलका महसूस करता हूं अपने को और अनुभव करता हूं कि पिंजरे में कैद एक पंछी जैसे बाहर निकल कर उड़ान भरने जा रहा है। अब से उसका अपना एक निजी आकाश होगा। उसकी अपनी हवाएं होंगी। उसकी अपनी परवाज़ होगी।

....

लेखक परिचय

सुभाष दीपक

– 12 नवम्बर 1946 में बीकानेर में जन्म हुआ ।

– 9 वर्ष की उम्र में नवभारत टाइम्स में पहली कविता छपी
लिखना और छपना तब से जारी है। गिनती याद नहीं।

– राष्ट्रदूत, नवज्योति, राजस्थान पत्रिका, दैनिक भास्कर, लोकमत, स्वास्थ्य सरिता, वातायन, लहर, ज्ञानोदय, अणिमा, कहानी, युवक, मधुमती, लोक सम्पर्क, शिविरा, आदि पत्र–पत्रिकाओं में कहानी, कविता तथा आलेख प्रकाशित । जयपुर–आकाशवाणी से कहानी और नाटक प्रसारित, दूरदर्शन जयपुर से नाटक का प्रसारण, अनुवाद भी किया और ट्रान्सक्रिप्शन भी, मंच पर नाटक में अभिनय भी किया और कविताएं भी पढ़ी ।

– 'भीड़ और अन्य कहानियां' शीर्षक से कहानी संग्रह प्रकाशित।

– 'एक दराज़ दुख' शीर्षक से उपन्यास प्रकाशित।

– 'हम तुम और वह' तथा 'एक टुकड़ा आकाश' शीर्षक से प्रकाशित राजस्थान के प्रतिनिधि कथाकारों के कथा संग्रह में कहानी सम्मिलित।

– मैकेनिकल इंजीनियर के रूप में चालीस बरसों तक विभिन्न प्राईवेट कम्पनियों में अनेक पदों पर नौकरी।

– वर्तमान में स्वतंत्र लेखन तथा अनुवाद कार्य।

डॉ. सम्बोध गोस्वामी

– राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से बी.ए. व एम.ए. की उपाधि प्राप्त की।

– भारतीय विद्या भवन, मुंबई से PGDBM, PGDMSM की डिग्री प्राप्त की।

– फीमेल इन्फैंटिसाइड एण्ड चाइल्ड मैरिज (कन्या वध एवम् बाल विवाह) नामक पुस्तक वर्ष 2007 में प्रकाशित।

– अनेक अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय एवम राज्य स्तरीय सेमिनार, कॉफ्रेंस में शोधपत्र वाचन।

– विगत 13 वर्षों से, विभिन्न महाविद्यालयों में इतिहास विषय में अध्यापनरत।

वर्तमान में, आर. एल. सहरिया राजकीय महाविद्यालय, कालाडेरा (जयपुर, राजस्थान) में अध्यापनरत।

– अनेक कहानियाँ, लघु कथाएं, गज़लें विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित।